अपनी बात

मानव स्वभावत उत्सव प्रेमी है। रग-राग, आमोद-प्रमोद, खान-पान और हँसी-मजाक में वह सहज ही प्रवृत्त होता है और जीवन का आनन्द मनाता है।

आध्यात्मिक मनीषियो ने मानव की सहज वृत्तियो को आध्यात्मिकता की ओर मोडने का प्रयत्न किया है। उसकी कषाय और मोह जनित प्रवृत्तियो को वीत-रागता और आत्म-रमणता के रग मे रग देने की अनेक चेष्टाएँ की है, उन्ही प्रयत्नो व उपक्रमो मे पर्युषण पर्व एक महत्वपूर्ण उपक्रम है।

इस पर्वराज की आराधना करने के लिए दूर-दूर के मित्र, स्वधर्मी, बन्धु और आध्यात्मप्रेमी लोग एकत्र होते हैं, एक ही नगर के निवासी भी धार्मिक स्थानो उपाश्रयों व मन्दिरों मे एक साथ मिलते हैं, पर उनका यह सम्मिलन आमोद-प्रमोद के लिए नही होकर आध्यात्मिक जागरण के लिए होता है। वे इन पर्व दिनो मे भौतिक व्यामोह को भुलाकर, आध्यात्मिक लोक मे विचरण करते हैं, कोई तपस्या करता है, कोई शास्त्र स्वाध्याय करता है, कोई दया पालता है, कोई दान करता है, कोई ब्रह्मचर्य का पालन करता है, कोई अपने कषायो की शान्ति करने मे जुटता है। पुराने वैर-विरोध और आपसी मन-मुटावों की कालिमा को धोकर आत्मा को शान्त, प्रसन्न और निर्वैर बनाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार यह पर्व मोक्ष के चार अगो की बहुमुखी आराधना-उपासना का एक पवित्र त्योहार बन जाता है। इन दिनो मे आध्यात्मिकरस, शान्तरस, करुणरस की जो अमृत वर्षा होती है, तप-त्याग-दान की जो पवित्र गगा बहती है, वह वास्तव मे ही अद्भुत है, परम आनन्ददायी आत्मोल्लास का वातावरण इन दिनो मे बनता है।

आत्मा मे नया उल्लास और नई चेतना जगे यही तो पर्वराज पर्युषण का मुख्य लक्ष्य है।

पर्युषण का प्रारम्भ भाद्रपद कृष्णपक्ष मे होता है और समाप्ति होती है शुक्लपक्ष मे। इसका सीधा सकेत है कि पर्युषण हमे कृष्णपक्ष से निकाल कर शुक्ल-पक्ष की ओर बढने का आह्वान करता है। काम-क्रोध-मोह आदि विकारो के गहन अधकार से निकालकर क्षमा-वैराग्य-शान्ति और आत्म-दर्शन के उज्ज्वल प्रकाशमय दिव्य लोक की ओर खीचता है।

पर्युषण के प्रथम दिनो में त्याग, तप आदि का उपक्रम चलता है और अन्तिम दिन, सर्व जीव जगत के साथ क्षमापना, आत्मतुल्य-अमित प्रेम और मैत्री की मधुर भावना के साथ समाप्त होता है। कृष्णपक्ष मे हम आत्मा की कलुषता, कालिमा को तप-त्याग द्वारा धोने लगते हैं और बाद दिनो मे धोते-धोते उसे परम उज्ज्वल निर्मल शुक्ल रूप मे प्रतिष्ठित कर परम प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं। यह भी कृष्ण-से शुक्ल पक्ष की ओर ऊर्ध्वगमन है।

प्रकाशकीय

पर्युषण-पर्व जैन ससार का महापर्व है। इन दिनो मे क्षमा, शाति और तप त्याग की पवित्र गगा का महास्रोत जन-जीवन को पावन एव शीतल करता हुआ बहता है। स्थान-स्थान पर शास्त्रो का वाचन एव स्वाध्याय चलता है।

स्वाध्याय प्रेमी श्रावको की अनेक वर्षो से यह माग आ रही थी कि पर्युषण पर्व का जितना माहात्म्य है, उसके अनुसार उसकी गरिमा एव उसकी आराधना की विधि का ज्ञान बहुत कम लोगो को है। अनेक युवक तथा जिज्ञासु पर्युषण के सम्बन्ध मे बार-बार पूछते रहते हैं कि पर्युषण का यह महत्त्व क्यो है? पर्युषण कब से चले? पर्युषण आठ दिन का ही क्यो? पर्युषण मे कौन सा आगम व शास्त्र पढ़ना चाहिए? इस पर्व का मुख्य सदेश क्या है? उद्देश्य क्या है? आदि प्रश्नो का उचित सतोषजनक समाधान वे खोजते है, किन्तु बहुश्रुत मुनियो के सान्निध्य का अभाव तथा विचार-प्रतिबद्धता के कारण ये प्रश्न सही समाधान नही पा सकते, और जिज्ञासा का प्रश्न चिन्ह खडा ही रहता है।

जब तक किसी विषय का तर्क-सगत समाधान नहीं मिलता, तब तक उसमे गहरी रुचि नही होती, होती है तो सिर्फ श्रद्धा-पूर्वक, किन्तु यदि ज्ञान-पूर्वक रुचि हो तो उसकी आराधना-उपासना मे भी अनूठा आनद आता है।

आदरणीय बहुश्रुत श्री मधुकर मुनिजी महाराज पर्युषण पर्व पर अनेक बार चिन्तन प्रधान, विवेचनात्मक प्रवचन करते रहते है। गतवर्ष कुचेरा चातुर्मास मे भी पर्युषण के पर्व दिनो मे काफी अच्छे विवेचनापूर्ण प्रवचन करे, जिन्हें सुनकर प्रबुद्ध श्रोताओ ने उनके सकलन एव प्रकाशन की माग की थी। अतएव सूत्र का वाचन तो मुनिश्रीजी प्रत्येक वर्ष बडी सरसता और सजीवता के साथ करते ही हैं।

पाठको की व्यापक माग और मुनिश्रीजी के समाधान परक, युक्ति एव शास्त्रीय प्रमाण पुरस्सर प्रवचन सुधाकर सस्था के हितैषियो व अधिकारियो ने इन प्रवचनों के प्रकाशन का निश्चय किया।

हमे प्रसन्नता है कि विद्वान सपादक तथा हमारे चिर सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने आत्मीय भाव से श्रम करके मुनिश्री जी के इन प्रवचनों का सुन्दर और सरस सम्पादन किया है। सम्पादकजी ने मुनिश्री जी के पर्युषण सम्बन्धी सभी प्रवचनो का अवलोकन कर उनमे एक क्रम-बद्धता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर प्रवचनो मे आये शास्त्रीय विषयो को सदर्भ देकर, उनकी प्रामाणिकता को परिपुष्ट कर दिया है। दूसरे खड के कथा भाग मे मुनिश्री जी द्वारा कल्पसूत्र के

प्रस्तावना

पर्युषण पर्व प्रवचन : एक चिन्तन

भारतीय-साहित्य मे वेद, आगम और त्रिपिटक का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक-परम्परा मे जो स्थान वेद का है तथा बौद्ध परम्परा मे जो स्थान त्रिपिटक का है, जैन-परम्परा मे वही स्थान आगम का माना गया है। वैदिक-परम्परा के ऋषियों ने शब्दो की सरक्षा पर अधिक बल दिया है, इसके विपरीत जैन और बौद्धो ने शब्द की सरक्षा के साथ-साथ उसके अर्थ पर भी अधिक बल दिया है। यही कारण है कि वेदों मे शब्दो और पाठों की सरक्षा रही, पर अर्थ की दृष्टि से विद्वानो मे मतभेद खड़े हो गए। वेद-परम्परा के विद्वानो ने अनेक प्रयत्न किए है। पर अर्थ की दृष्टि से वे आज तक भी एक मत नहीं हो सके। जैन तथा बौद्ध-परम्परा मे शब्द के समान अर्थ को भी महत्व दिया गया है, यही कारण है कि आगमों मे पाठ भेद होने पर भी अर्थ भेद विशेष नही रहा। वेद किसी एक ऋषि के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करते, जबकि जैन-गणि-पिटक एव बौद्ध-त्रिपिटक क्रमश भगवान महावीर और बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन-परम्परा के अनुसार आगमो के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं, और सूत्र के प्रणेता गणधर रहे है। यही कारण है, कि इन तीनो परम्पराओ मे समय-समय पर विचार भेद रहा है।

जैन और वैदिक-परम्परा की सस्कृति, दर्शन और धर्म, एक देश के होकर भी उनमे कुछ मौलिक भेद रहे हैं। जैन-सस्कृति अध्यात्म-प्रधान है। वहाँ आत्म-साधना को विशेष महत्व दिया गया है। जैन आगमो मे उन तत्वो का निरूपण किया गया है, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव के जीवन विकास से है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ समय पूर्व तक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानो का यह अभिमत था, कि आगम और पिटक के मूल प्रेरणा स्रोत वेद ही रहे हैं, अथवा वेदो के विशेष भाग उपनिषद् रहे हैं, परन्तु मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से सम्प्राप्त ध्वसावशेषो ने विद्वानों की कल्पित धारणाओं मे परिवर्तन कर दिया है, और सिद्ध कर दिया है, कि आर्यों के आगमन से पूर्व ही भारत मे जो धर्म और सस्कृति तथा दर्शन थे, वे पूर्ण रूप से विकसित थे। कुछ निष्पक्ष समालोचकों ने इस सत्य को स्वीकार किया है, कि श्रमण सस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक-परम्परा ने अहिंसा, अपरिग्रह और समन्वय के तत्वों को स्वीकार किया है।

अन्तकृत दशा सूत्र की वाचना

भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष के बाद से १५०० वर्ष तक का—लगभग पाँच-सौ वर्ष का मध्यकाल अनेक दृष्टियो से जैन-धर्म की अवनति का काल माना जाता है। इस युग मे प्रतिभाशाली विद्वान आचार्य तो हुए, लेकिन आचार की दृष्टि से वे शिथिल माने जाते रहे। धर्म मे आडम्बर, द्रव्य पूजा तथा लौकिक एषणाओ के कारण वे राजकीय मान-सम्मान और चमत्कारो मे फसकर साधु के उज्ज्वल-निर्मल चारित्र की मर्यादाओ से कुछ दूर हटने लगे थे। पर्युषण-पर्व में कल्प-सूत्र की वाचना करने की परिपाटी काफी प्रचलित हो चुकी थी, और वह आगम की भाँति ही जनता की श्रद्धा का केन्द्र बन गया। इस श्रद्धा का लाभ उठाकर आचार्यों ने कल्प-सूत्र के माध्यम से ही आडम्बर का प्रचार एव प्रसार किया। भगवान का जन्म-अभिषेक, जन्म-कल्याणक एव दीक्षा-कल्याणक आदि की वाचनाओ पर अनेक प्रकार पूजा एव आडम्बरो के लिए धन-सग्रह होने लगा। आध्यात्मिक दृष्टि का विस्मरण कर दिया गया। इस स्थिति को देखकर कुछ अध्यात्म-प्रेमी साधको का मन अत्यन्त खिन्न हुआ। पर्युषण को वे विशुद्ध आध्यात्मिक-जागृति का पर्व ही रखना चाहते थे। अत आचार्यों ने देश और काल की परिस्थिति को देखकर कल्प-सूत्र के स्थान पर अन्य आगम वाचना का विकल्प प्रस्तुत करने का सकल्प किया। उसी खोज का परिणाम यह है, कि कल्प-सूत्र का स्थान धीरे-धीरे अन्तकृतदशा-सूत्र ने ले लिया। यह एक इस प्रकार का आगम था, जिसमे तप, त्याग एव वैराग्य की भावनाएं अधिक प्रस्फुटित हो रही थी। अन्तकृतदशा-सूत्र मे भगवान नेमिनाथ, वासुदेव श्रीकृष्ण एव भगवानमहावीर के युग के महान् तपस्वी साधको के निर्मल जीवन का वर्णन उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कल्प-सूत्र के स्थान पर अन्तकृतदशा-सूत्र की वाचना कब और किस आचार्य से प्रारम्भ हुई इसका कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही है। पर ऐतिहासिक कारणो की खोज मे यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि यह महान् परिवर्तन धर्मप्राण लोकाशाह की उस धर्म-क्रान्ति का ही परिणाम है, जो शिथिलाचार, धार्मिक-आडम्बर और द्रव्य-पूजा के विरोध मे की गई थी। अनेक दृष्टियो से यह परिवर्तन सुन्दर है।

अन्तकृतदशा . एक परिचय .

अन्तकृतदशा-सूत्र एक चरित्र प्रधान आगम है, जिसमे नेमि-युग एव महावीर-युग के ९० महान् साधको का तपोमय जीवन वर्णित है। कितना सुन्दर सयोग मिला कि पर्युषण-पर्व के आठ दिवस और अन्तकृतदशा-सूत्र भी ग्यारह-अगो मे आठवाँ अंग और फिर इस आठवें अग के वर्ग भी आठ ही है। आठ कर्मों का सपूर्ण रूप से क्षय करने वाले महान् साधको के उदात्त जीवन का इसमे वर्णन है। प्राकृत में अन्तगडदसा और सस्कृत मे अन्तकृद्दशा—इस सूत्र का नाम है। अन्तकृत् शब्द की व्याख्या करते हुए नवागी व्याख्याकार अभयदेवसूरि ने कहा है—

"अन्तो-भवान्त", कृतो-विहितोयैस्ते अन्तकृत. तेषां दशा अन्तकृद्दशा।"

भव-सागर का अन्त जिन्होंने कर दिया, वे अन्तकृत कहलाते हैं, उन अन्तकृतों अर्थात् सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हुए आत्माओं का वर्णन जिसमें किया गया हो, वह अन्तकृत-दशा कहा जाता है। इसके आठ वर्ग हैं। प्रथम एवं अन्तिम वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं। शेष किसी में तेरह अध्ययन और किसी में सोलह अध्ययन हैं। इस आगम के प्रथम-वर्ग से पाँचवें वर्ग तक भगवान नेमिनाथ-युग के साधकों का वर्णन है। पाँच वर्गों के अध्ययनों की संख्या इस प्रकार है—प्रथम वर्ग में १० अध्ययन, द्वितीय वर्ग में ८ अध्ययन, तृतीय वर्ग में १३ अध्ययन, चतुर्थ वर्ग में १० अध्ययन तथा पञ्चम वर्ग में १० अध्ययन, इस प्रकार इन पाँच वर्गों में कुल ५१ अध्ययन हैं। छट्ठे, सातवें और आठवें वर्ग में भगवान महावीर के युग के साधकों का वर्णन है। इन साधकों की संख्या ३९ है। छठे वर्ग के १६ अध्ययन, सातवें-वर्ग के १३ अध्ययन तथा आठवें वर्ग के १० अध्ययन हैं। अन्तकृतदशासूत्र का संक्षेप में यही परिचय है।

कल्प-सूत्र : एक परिचय

कल्प-सूत्र की वाचना प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। स्थानकवासी परम्परा मान्य ३२ आगमों में इसकी परिगणना नहीं की जाती, फिर भी अनेक दृष्टियों से कल्प-सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। विशेषतया ऐतिहासिक-दृष्टि से इसका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। कल्प-सूत्र तीन विभागों में विभाजित रहा है। इसके प्रथम विभाग में तीर्थंकरों का जीवन चरित्र है। सर्वप्रथम भगवान महावीर का विस्तृत जीवन है, फिर भगवान पार्श्वनाथ, भगवान नेमिनाथ और भगवान ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन है। शेष तीर्थंकरों का संक्षिप्त जीवन परिचय दिया गया है, कल्पसूत्र का द्वितीय विभाग स्थविरावली के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एकादश गणधर, जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी और आचार्य भद्रबाहु, आचार्य संभूतिविजय और आचार्य देवर्धिगणि आदि आचार्यों के जीवन का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक की परम्परा का वर्णन स्थविरावली में किया गया है। कल्प-सूत्र का तृतीय भाग—समाचारी है। इसमें दस प्रकार की समाचारी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस विभाग में साधु-वर्ग और साध्वी-वर्ग के पालनीय कर्तव्यों का, उनके आचार का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

पर्युषण-पर्व का महत्व

जैन-परम्परा में पर्युषण का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पर्युषण के पवित्र दिनों में [illegible] आराधना की जाती है। पर्युषण-पर्व के सम्बन्ध में एक विवादास्पद प्रश्न यह रहा है, कि पर्युषण कब मनाया जाना चाहिए। यह प्रश्न इतना अधिक विवादास्पद रहा है, कि जैन-समाज में इसके कारण से अनेक सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय [illegible] विभक्त होते रहे हैं। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार जिस वर्ष [illegible] दो श्रावण या दो भाद्रपद हों उस वर्ष जैन समाज में पर्व-आराधना का [illegible] एक विकट प्रश्न उपस्थित हो जाता है। क्यों है—श्रावण का, [illegible]

मे सारा समाज ग्रस्त हो जाता है। इस विषय मे इस प्रकार समझा जा सकता है, कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़कर द्वाविंशति तीर्थंकरो के युग मे पर्युषण कल्प जैसा कोई विधान नही है। वर्षावास मे एक नियत स्थान पर एक नियत काल तक रहने का उनके लिए कोई विधान नही है। एक क्षेत्र मे रहने से यदि कोई दोष की सम्भावना न हो, तो वे पूर्व कोटि वर्ष तक एक स्थान पर रह सकते हैं, और यदि दोष की सम्भावना हो, तो एक मास भी नही रह सकते। इस प्रकार वर्षावास मे जब तक वर्षा होती रहे, वे एक स्थान पर रहते हैं, यदि वर्षा न होती हो तो वे कभी भी विहार कर सकते है। प्रथम तीर्थंकर तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधको का यह कल्प नही है उनके लिए निश्चित विधान है, कि वे निर्दोष स्थान 'देखकर' आषाढ पूर्णिमा को वे एक स्थान पर स्थित हो जाएँ। यदि आषाढी पूर्णिमा तक उन्हे किसी निर्दोष स्थान की प्राप्ति न हो, तो पाँच-पाँच दिनो के अन्तर से अर्थात् श्रावण कृष्णा, पचमी, दशमी आदि प्रत्येक पाँच दिन के अन्तर से निर्दोष स्थान की प्राप्ति होने पर पर्युषण कर लें। यदि ऐसा करते-करते १ मास और २० दिन बीत जाएँ, तो निर्दोष स्थान न मिलने पर आखिर आषाढी पूर्णिमा के पचासवें दिन भाद्र शुक्ला पचमी को तो निश्चित रूप से पर्युषण कर ले, भले ही किसी वृक्ष की छाया मे ही रहकर पर्युषण करना पड़े। परन्तु उस पर्व तिथि अर्थात् पञ्चमी का उल्लघन न करे और उसके बाद ७० दिन तक वही स्थिर रहकर वर्षावास बिताए। समवायांग सूत्र एव कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के विषय मे भी यही उल्लेख है, कि श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के एक मास बीस दिन व्यतीत होने के बाद पर्युषण किया था। जिस प्रकार भगवान ने वर्षाकाल का एक मास बीस दिन व्यतीत होने पर वर्षावास का निश्चय किया, उसी प्रकार उनके गणधर, आचार्य, उपाध्याय एव साधु-साध्वी भी वर्षावास का निश्चय करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है—पर्युषण-पर्व-प्रवचन। लेखक और सम्पादक ने प्रस्तुत पुस्तक को दो विभागो मे विभाजित किया है—विचार चर्चा विभाग और प्रेरणाप्रद-प्रसग। दोनो ही विभाग अपने आप मे परिपूर्ण है। विचार चर्चा-विभाग मे सरस, सुन्दर एवं रुचिपूर्ण प्रवचनो का सकलन किया गया है, जिससे प्रवचनकार की बहुश्रुतता एव विद्वत्ता का परिचय उपलब्ध होता है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से प्रवचनकार और सम्पादक दोनो अपनी-अपनी सीमाओ मे फलवान सिद्ध हुए है। कही-कही पर विषय की गम्भीरता अवश्य उभर आई है, पर सुन्दर शैली के कारण उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से हो जाती है। अत अध्येता को किसी भी प्रकार की परेशानी नही होती। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के प्रवचनो का यह सकलन एकदम नूतन न कहा जा सके, तब भी इसमे अनेक स्थानो पर नूतनता का समावेश बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। सन्मति-ज्ञानपीठ आगरा से भी राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज के प्रवचनो का एक सकलन—'पर्युषण-पर्व' के नाम से हो चुका है। उसकी विषय-वस्तु एव प्रस्तुत पुस्तक की विषय-वस्तु कुछ अशो मे एक होते हुए भी दोनो की भाषा एव शैली मे पर्याप्त अन्तर है।

सहयोगी-परिचय

श्री लक्ष्मीलाल जी लुंकड़

श्रीयुत लक्ष्मीलाल जी लुंकड मूलत. तिवरी के अधिनिवासी हैं।

तिवरी जोधपुर जिले के अन्तर्गत, जोधपुर से जेसलमेर जाने वाली रेल्वे-लाइन पर मथानिया और ओसियाँ के बीच स्टेशन वाला और शस्य-श्यामला भूमि से समृद्ध एक छोटा-सा कस्बा है।

वहाँ पर पहले ओसवाल समाज की अच्छी आबादी वाली बस्ती थी।

आज तो कृषि व व्यवसाय की दृष्टि से तिवरी एक सम्पन्न क्षेत्र है। परन्तु कुछ वर्षों पहले वहाँ कि ऐसी स्थिति थी कि वह व्यावसायिक क्षेत्र नही रह सका। अत वहाँ के निवासी ओसवाल-संघ के सदस्य व्यवसाय के लिए इधर-उधर मध्य प्रदेश व खानदेश आदि सुदूर स्थानो पर जाकर रहने लग गये।

श्रीयुत लक्ष्मीलाल जी के पूज्य पिताजी श्रीमान बुधमल जी ने जगदलपुर (बस्तर) को अपना व्यवसाय क्षेत्र बनाया। वहाँ पर जाकर सीधे, सरल और सौजन्य मूर्ति श्री बुधमल जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रगति की।

श्री लक्ष्मीलाल जी श्री बुधमल जी के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। आपके अनुज भाई का नाम श्री मोतीलाल जी है।

आपके तीन बहिनें हैं—कस्तूरी बाई, चैनीबाई और पतासीबाई।

श्रीयुत लुंकडजी का अपना निम्नलिखित परिवार है—

चार पुत्र—अमरचन्द जी, नवरतनमलजी, गौतमचन्दजी व सुशीलकुमार जी।

चार पुत्रियाँ—कमला देवी, विमला देवी, शान्तिबाई और कान्तिबाई।

श्रीयुत लुंकड जी सुयोग्य पिता के सुयोग्य सुपुत्र हैं।

आप पुरातन परम्परा से स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी जी श्री जोरावरमलजी महाराज, स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज व वर्तमान में विराजित श्रमण संघीय उपप्रवर्तक शासन-सेवी स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज, बहुश्रुत पंडित रत्न श्री मधुकर मुनिजी, श्री विनय मुनिजी व श्री महेन्द्र मुनिजी के प्रिय भक्तों में से एक स्नेहिल भक्त हैं।

समय-समय पर आप राजस्थान पधार कर मुनिश्री जी के दर्शनों का लाभ लेते रहते हैं। आप मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के स्तम्भ सदस्य हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के सम्पादन व मुद्रण में आपने एक अच्छी अर्थराशि का सहयोग दिया है। एतदर्थ यह संस्था आपका पूर्ण आभार मानती है।

संस्था के आगे के प्रकाशनों में भी आप अपना पूर्ण सहयोग देते रहेंगे। संस्था के सभी सदस्यों की यह मंगल कामना है।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

पर्युषण : एक विचार चर्चा

द्वितीय खण्ड

प्रेरणाप्रद प्रसंग

१

मनुष्य जीवन का लक्ष्य

बन्धुओ !

आज का प्रवचन मैं एक कहानी से प्रारम्भ कर रहा हूँ।

एक शिष्य गुरु के पास विद्याध्ययन करने आया। वर्षों तक अध्ययन करता रहा, ज्ञानार्जन करता रहा। गुरु जी उसे ज्ञानदान करते रहे। चौबीस वर्ष बीत गये। शिष्य रात-दिन ज्ञान पढ़ता ही रहा। सभी शास्त्रों का पारायण कर लिया, एक दिन शिष्य ने गुरु से पूछा—महाराज ! अब तो मुझे काफी ज्ञान प्राप्त हो गया, सभी शास्त्रों के पन्ने पलट लिए, सब पाठ कंठस्थ कर लिए अब तो ज्ञान का कुछ किनारा आया होगा ? अब कितना ज्ञान और बाकी रहा है ?

गुरु ने हँसकर कहा—वत्स ! ज्ञान तो अपार है अनन्त है। "अनन्तपारं किल शब्दशास्त्र"—इसका कोई पार नहीं, एक नहीं हजारों जन्म लेते जाओ, पढ़ते जाओ फिर भी ज्ञान का कोई पार नहीं आता !

शिष्य कुछ उदास हो गया, बोला—महाराज ! फिर तो यह श्रम करना ही व्यर्थ है ! आप तो गुरु हैं कोई ऐसी चाबी बताइए, कि बस, चाबी घुमाई कि ज्ञान का द्वार खुल गया। कोई ऐसा उपाय है जिससे छोटे लोटे में ही सब कुछ पाया जा सकता हो ?

गुरु ने कहा—हाँ, एक तत्त्व है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान अपने आप प्राप्त हो जाता है।

शिष्य के चेहरे पर जरा चमक आ गई, उसे आशा बंधी कि हाँ, उस ज्ञान का किनारा पाया जा सकता है। उसने पूछा—कस्मिन् विज्ञाते भवति सर्वमिदं विज्ञातं भवति महाराज ! वह कौन सा तत्त्व है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है, मुझे तो वही बताइए !"

गुरु ने उत्तर दिया—आत्मनि विज्ञाते भवति सर्वमिदं विज्ञातं भवति—अगर आत्मा को जान लिया, तो सब कुछ जान लिया। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान स्वतः प्राप्त हो जाता है।

प्रथम खण्ड

पर्युषण : एक विचार चर्चा

[कल्प एव पर्युषण, सावत्सरिक प्रतिक्रमण एव क्षमापना आदि पर ऐतिहासिक तथा आगमिक दृष्टि से विचार चर्चा]

मनुष्य देखने के बाद उस पर विचार भी करता है, मनन करता है। इसलिए उसे मनुष्य कहा है। मनन करने वाला ही ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसलिए मनुष्य को ही आत्मज्ञान का अधिकारी माना गया है।

यह मनुष्य जीवन मोक्ष का द्वार है। भगवान महावीर ने कहा है—माणुस्सं खु सुदुल्लहं—मनुष्य जन्म सबसे दुर्लभ है! स्थानाग सूत्र मे बताया है—स्वर्ग के देवता भी तीन बातो की इच्छा-कामना करते रहते हैं—

तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा—

माणुस्सगं भव	हमे मनुष्य जन्म मिले
आरिय खेत्ते जम्म	हमे आर्य देश मिले
सुकुल पच्चायाइ[1]	हमे उत्तम कुल मिले

कहा गया है कि अनन्त पुण्यो के उदय से ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। यह चिन्तामणि रत्न से भी अधिक दुर्लभ है। एक प्राचीन कहानी है—

कोई एक दरिद्र व्यक्ति एक बार किसी जगल मे भटक रहा था। भटकते-भटकते उसे एक चमकता हुआ मणि मिल गया। उसने समझा यह कांच का टुकड़ा बड़ा सुन्दर दीख रहा है, इसे लेकर कही बेचूंगा तो दस-बीस पैसे मिल जायेंगे। उस कांच मणि को लेकर वह जगल मे किसी वृक्ष के नीचे बैठ गया। वर्षा हो चुकी थी, ठंडी हवा चल रही थी, भिखारी को खूब जोर की भूख लगी, पेट मे चूहे दंड पेलने लगे तो उसकी इच्छा हुई—"ऐसे सुहावने मौसम मे तो बढ़िया गर्म-गर्म खीर और जलेबी मिल जाये तो बस आनन्द आ जाये।"

इच्छा करना था कि तुरन्त गर्मागर्म खीर और जलेबी के थाल उसके सामने आ गये। भिखारी तो देखकर नाच उठा और टूट पड़ा खीर जलेबी पर, खूब छककर खीर जलेबी खाई। जिन्दगी मे पहली बार उसे ऐसा भोजन मिला था, खूब डट कर खाया।

अधिक भोजन करने से नींद भी आती है। उसे आलस चढ़ा, नींद आने लगी, सोचा एक अच्छा महल हो, उसमे बढ़िया पलंग हो, नरम-नरम गद्दा बिछा हो तो बस नींद का मजा आ जाये।"

क्षण भर मे महल तैयार हो गया, पलंग बिछ गया, नरम गद्दा लग गया। अब भीतर अग की इच्छा थी तो वह भी तैयार मिल गया। भिखारी बहुत खुश था। आनन्द से नींद लेने लगा।

इधर कांच-मणि, जो वास्तव मे चिन्तामणि रत्न था, और जिसके प्रभाव से ही यह सब चमत्कार हो रहा था, उसकी अधिष्ठायिका देवी ने सोचा—यह भिखारी

---

1. स्थानांग ३।३।२६१

२

पर्व : एक चिंतन

बन्धुओ !

आज पर्युषण पर्व का प्रारम्भ हो रहा है। बहुत दिनो से इस पर्वराज को मनाने की तैयारी हो रही थी, हम सब बडी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आज यह पर्व प्रारम्भ हो रहा है।

आप लोग जहाँ तन-मन से इस पर्वराज की आराधना करने मे जुटे हैं, वहाँ कुछ जिज्ञासु सज्जनो के मन मे इस पर्व के विषय मे अनेक प्रकार के चिन्तन भी चल रहे हैं। पर्युषण का अर्थ क्या है, यह क्यो मनाया जाता है, इसमे क्या-क्या करना चाहिए ? कब मनाना चाहिए और आजकल इस पर्वराज को लेकर इतने मतभेद उग्र क्यो हो रहे हैं ? मेरा विचार है हम इन विषयो पर शास्त्रीय दृष्टि से कुछ विचार करें। परम्परा और युक्ति ध्यान मे रखकर इन प्रश्नो का सही समाधान खोजें।

एक कवि ने कहा है—उत्सवप्रिया मनुष्या.—मनुष्य उत्सवप्रिय होता है। सदा एक जैसा जीवन बिताना, एक ही लकीर का फकीर बनकर चलना उसे पसन्द नही है। वह रोज कुछ न कुछ परिवर्तन चाहता है। भोजन भी रोज एक जैसा पसन्द नहीं करता, वस्त्र भी एक जैसे पसन्द नही करता। नित नया कुछ न कुछ परिवर्तन लाते रहना—यह उसका स्वभाव है, उसकी रुचि है।

नित्य नवीनता की रुचि ने ही पर्व का आरम्भ किया है। त्योहार, उत्सव, पर्व—उसके जीवन की दिशा मे कुछ न कुछ परिवर्तन, कुछ न कुछ नवीनता लाते हैं, और यह नवीनता सभी को प्यारी है, चाहे बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री हो या पुरुष।

पर्व का अर्थ—

'पर्युषण पर्व' भी जीवन मे एक नया परिवर्तन लाता है, मोड लाता है, उल्लास और उमग जगाता है। इसलिए इन आध्यात्मिक दिनो को हमने पर्व कह दिया है। 'पर्युषण-पर्व' मे दो शब्द हैं। पहले हम पर्व शब्द का विचार करें—

'पर्व' का अर्थ होता है—पवित्र दिन। शब्द शास्त्र के अनुसार पर्व के कई अर्थ होते हैं। ग्रन्थ के खण्ड को भी पर्व कहते हैं—जैसे महाभारत के शान्ति पर्व, वन पर्व, अनुशासन पर्व।

प्रतीक है, वसन्त पचमी वास्तव मे सरस्वती पूजा के रूप मे ज्ञानोपासना की भावना को प्रगट करता है। वसन्तोत्सव को कुछ लोग काम-पूजा का पर्व मानते हैं। इस दिन कामदेव की पूजा की जाती है और इस ऋतु को जीवन मे भौतिक नव उल्लास का प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार जो पर्व प्रति मास हमारे दैनिक जीवन मे आते हैं, उनके पीछे, किसी महापुरुष की जीवन-गाथा, उनके जीवन की कोई विशिष्ट घटना अथवा कोई ऐतिहासिक या प्राकृतिक परिवर्तन का कारण रहता है। जैसे वसन्तोत्सव, शरदोत्सव, मकरसक्रांति आदि पर्व ऋतु-परिवर्तन के समय आमोद-प्रमोद के रूप मे मनाये जाते हैं, प्राचीन समय मे भी ये पर्व प्रचलित थे आज भी विभिन्न प्रान्तो मे अलग-अलग रूप मे प्रचलित है। भाव यह है कि लौकिक पर्व के पीछे किसी न किसी प्रकार की भौतिक कामना रहती है। भले ही वह धन की कामना, विजय की कामना, भय की भावना, काम भावना या आनन्द-उल्लास की भावना हो, बस उनका उद्देश्य वही तक सीमित रहता है। अच्छा मिष्टान्न भोजन कर लिया, स्वजन-मित्रो से मिल लिए, घूमना-फिरना, खेल-क्रीडा कर ली। हमारे जीवन मे कुछ राष्ट्रीय पर्व भी आते हैं जैसे २६ जनवरी, १५ अगस्त आदि, इनके पीछे देश एव राष्ट्र-प्रेम तथा स्वतन्त्रता की भावना काम करती है।

लोकोत्तर पर्व—दूसरे प्रकार के पर्व जो हैं उन्हे हम लोकोत्तर पर्व कहते हैं, इन्हें आध्यात्मिक या धार्मिक पर्व भी कह सकते हैं। प्रत्येक धर्म परम्परा मे अपने-अपने विश्वास और महापुरुषो के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओ तथा परम्परागत कारणो से ये पर्व-धार्मिक पर्व के रूप में मनाये जाते है। जैन परम्परा मे जैसे पर्युषण, दश लक्षण, श्रुत पचमी, महावीर जयन्ती आदि पर्व हैं, ये विशुद्ध धार्मिक पर्व है, इनके पीछे आत्म-विकास एव आत्म-शुद्धि की प्रेरणा छिपी है।

बौद्ध परम्परा मे वैशाखी पूर्णिमा एक बहुत बडा पर्व माना जाता है। बुद्ध का जन्म, बोधिलाभ एव परिनिर्वाण तीनो इसी पूर्णिमा को हुए इसलिए वहाँ वैशाखी पूर्णिमा बडा पवित्र दिन और धार्मिक पर्व के रूप मे माना गया है।

हिन्दू समाज जन्माष्टमी को बहुत बड़े धार्मिक पर्व के रूप में मनाता है। यह वासुदेव श्रीकृष्ण का जन्म-दिन होने के कारण लाखो-करोड़ों श्रद्धालु इस दिन उपवास करते हैं, श्रीकृष्ण की पूजा, पर्युपासना और भजन मे इस दिन को सफल बनाते हैं।

इसी प्रकार ईसाई क्रिसमस है—जिसे ईसा का जन्म-दिन माना जाता है तथा मुसलमान रमजान और ईद-उल-फित्र को धार्मिक पर्व के रूप मे मनाते हैं। रमजान के महीने मे मुसलमान प्रायः दिन मे उपवास रखते हैं, कहते हैं थूक भी नहीं निगलते, ईद-उल-फित्र के विषय मे कहा जाता है—कि कुरान शरीफ (मुसलमानो का धर्मग्रन्थ) पहले पहल इसी दिन प्रकाश मे आया।

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ससार मे मनुष्य चाहे किसी भी धर्म-परम्परा का हो, किसी भी देश का निवासी हो, वह अपने मानवीय स्वभाव के अनुसार जीवन

से विविध प्रकार के पर्व मनाकर उल्लास-उत्साह, आमोद-प्रमोद के द्वारा नित-नवीन परिवर्तन और नित नयापन महसूस करना चाहता है।

लौकिक पर्वों में जहाँ हमारी दृष्टि शरीर, धन सम्पत्ति एवं आमोद-प्रमोद तक ही टिकी रहती है, वहाँ लोकोत्तर पर्व के दिनों में हमारी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी होती है। हम शरीर से ऊपर उठकर आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। जब आत्मा का दर्शन करेंगे तो परमात्मा का दर्शन भी हो जायगा, इसलिए लोकोत्तर पर्व को हम आत्म-दर्शन या परमात्म-दर्शन का पर्व कह सकते हैं। इन पर्व दिनों में आत्मिक शुद्धि, क्रोध-कषाय आदि का त्याग कर शान्ति और समता का अभ्यास किया जाता है।

जैनधर्म की दृष्टि से इस प्रकार के लोकोत्तर पर्वों में 'पर्युषण पर्व' का सर्वोत्तम स्थान है। पर्युषण पर्व को—जैन भाषा में पर्वाधिराज, या 'महापर्व' भी कहा गया है। इसका कारण इस पर्व की आध्यात्मोन्मुखी दृष्टि है। इस पर्व में वीतराग भाव की विशेष साधना की जाती है। परस्पर के वैर-विरोध को शान्त कर क्षमा, प्रेम एवं मैत्री भाव की गंगा बहाई जाती है। शत्रु से शत्रु भी इस दिन एक-दूसरे को क्षमादान करके, मन को साफ एवं निर्मल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसी दृष्टि से आजकल पर्युषण पर्व के अन्तिम दिन को क्षमावाणी अथवा विश्वमैत्री दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस पर्व की भावना जो एक दिन जागृत होती है। यदि हमारे जीवन में सदा-सदा के लिए स्थायी हो जाय तो समूचा संसार स्वर्ग बन जाए, फिर कोई किसी का शत्रु न रहे। सर्वत्र बन्धुभाव का दर्शन हो, और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न साकार हो जाय।

तो, यहाँ तक 'पर्व' के विषय में हमने चिन्तन किया। अब हम पर्युषण पर्व के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन करेंगे।

३

पर्युषण शब्द और भाव

बन्धुओ,

कल हमने 'पर्व' शब्द पर चिन्तन किया, 'पर्व' के पहले 'पर्युषण' शब्द लगा है, जो इसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की सूचना करता है। आज 'पर्युषण' शब्द और भाव पर विचार करना है।

'पर्युषण' शब्द जैन संस्कृति और जैन परम्परा का एक ऐसा शब्द है जिससे छोटे से छोटा बच्चा भी परिचित है। आबाल-वृद्ध तक सर्वव्यापक यह शब्द है। हाँ, आश्चर्य तो यह है कि 'पर्युषण' इतना व्यापक शब्द होते हुए भी श्वेताम्बर जैन परम्परा में इसकी जितनी गरिमा है, दिगम्बर जैन परम्परा में इस शब्द का कोई विशेष प्रचलन नहीं देखा जाता। वहाँ 'पर्युषण' के स्थान पर 'दश लक्षणी' शब्द अधिक प्रचलित है। श्वेताम्बर पर्युषण का अन्तिम दिन और दिगम्बर 'दश लक्षणी' का प्रथम दिन—भाद्रपद शुक्ला पंचमी—अर्थात् एक ही दिन है, फिर भी दोनों परम्परा में शब्द अलग-अलग है। हमें अपनी परम्परा के अनुसार इस शब्द के अर्थ और भाव पर विचार करना है। शाब्दिक दृष्टि से भी और भावात्मक दृष्टि से भी 'पर्युषण' का अर्थ—समझना है।

बहुत बार हम शब्दों के बाह्य अर्थ में ही उलझकर रह जाते हैं, शब्द के शरीर को तो पकड़ लेते हैं, किन्तु उसकी भावना या शब्द की आत्मा को नहीं पकड़ पाते। समझ लीजिए किसी ने खाना खाते समय कहा—सैंधव लाओ, तो आप क्या लायेंगे? सैंधव का अर्थ सिन्धु देश में उत्पन्न हुई वस्तु है, वह घोड़ा भी हो सकता है और नमक भी। घोड़े को भी सैंधव कहते हैं और नमक को भी, पर खाना खाते समय सैंधव बोलने से नमक समझा जायेगा, और यात्रा व प्रस्थान के समय सैंधव से मतलब घोड़ा समझा जायेगा। तो यह बात हुई कि शब्द को बाहरी रूप में नहीं किन्तु भीतरी रूप में पकड़ना चाहिए, देश-काल के अनुसार उसका भाव-आशय ग्रहण करना चाहिए।

बहुत बार ऊपर का वैभव देखकर ही हम समझ लेते हैं कि हमारी वस्तु सुरक्षित है। पर वास्तव में सब कहीं गायब हो जाता है। कहा जाता है कि एक बार गुरु गजानन अमेरिका में एक बहुत ऊँची और मन्दिर की बिल्डिंग देखने के लिए गये।

(५) पज्जुसणा (६) वासावास
(७) पढमसमोसरण (८) ठवणा
(९) जेट्ठोग्गह

ये शब्द यद्यपि पर्यायवाची हैं, किन्तु शब्द शास्त्र की दृष्टि से कोई भी शब्द अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक शब्द का अर्थ कुछ न कुछ भिन्न होता ही है। जैसे साधु, श्रमण और मुनि ये शब्द पर्यायवाची होते हुए भी इनका अर्थ अलग-अलग भी किया जाता है—जो आत्म-साधना करे—वह साधु। जो तप आदि में श्रम करे—वह श्रमण। जो सावद्य एवं पापकारी प्रवृत्तियों में मौनभाव रखे—वह मुनि। इसी प्रकार पर्युषणा के पर्यायवाची शब्दों का अलग-अलग अर्थ भी प्राचीन आचार्यों ने किया है, जिस पर थोड़ा-सा विचार करना जरूरी है।

(१) परियायठवणा—का अर्थ है पर्युषणकाल से साधुओं की दीक्षा पर्याय गिनी जाती थी, जैसे जिसे दीक्षा लिए जितने पर्युषण बीत गये वह उतने वर्ष का दीक्षित कहलाता था। दीक्षा की ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता का कारण, पर्युषण को मानने से इसे 'परियाय ठवणा' कहा है।

(२) पज्जोसवणा—इस काल में द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव सम्बन्धी विशेष प्रकार की क्रियाएँ की जाती हैं। जैसे तपश्चरण, केशलोच, प्रतिक्रमण आदि। अतः इसे 'पर्युषणा' अथवा राग द्वेष की उपशांति हेतु विशेष आराधना की जाती है। इसलिए—'पर्युपशमना' कहा गया है।

(३) पागइया—गृहस्थ एवं साधु आदि के लिए सहजभाव से यह समाराधनीय है—इसलिए प्राकृतिक पर्व है यह। इस शब्द से पर्युषण की शाश्वत सत्ता की सूचना भी मिलती है।

(४) परियसना—इस काल में साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है, अतः इसे परि (सर्वथा प्रकार से) वसना (रहना)—आत्मा के निकट रहना कहा है।

(५) पज्जुसणा—साधक इस अवधि में पर्युपासना-ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा देव-गुरु धर्म की सेवा विशेष भाव से करे, इसलिए—यह पर्युपासना भी है।

(६) वासावास—यह काल 'वर्षाकाल' कहलाता है और इस काल में साधक एक स्थान पर निवास करता है अतः इसे 'वर्षावास' भी कहा है।[1]

(७) पढमसमोसरण—प्रावृट् काल वर्ष का प्रथम काल (मास ?) अर्थात् आषाढ़ी पूर्णिमा को संवत्सर पूर्ण होने के बाद श्रावणी प्रतिपदा से नया वर्ष प्रारम्भ

---

1. बृहत्कल्प सूत्र उद्दे. १, सूत्र ३५ की निर्युक्ति में वर्षावास के दो भेद किये हैं—१ प्रावृट् और २ वर्षारात्र। श्रावण-भाद्रपद के दो महीने प्रावृट् तथा आश्विन-कार्तिक के दो महीने वर्षारात्र कहे गये हैं।

(२) पर्युपशमना—प्राकृत पज्जोसवणा शब्द का पर्युपशमना अर्थ होता है। जिसका भाव है—सब प्रकार से शांति, उपशांति करना।

वर्षाकाल मे जिस प्रकार शीतल जलधारा वर्ष कर धरती का ताप और प्यास शांत करती है, भूमि जलधारा से परितृप्त होकर शांत हो जाती है उसी प्रकार साधक—आत्मा के कषायो को, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी अग्नि को, मिथ्यात्व रूपी ताप को, समता, शांति, वैराग्य एव ज्ञान की शीतलधारा से स्वाध्याय तप की जलवृष्टि से पूर्णरूप से शांत करने का प्रयत्न करता है—इसलिए इस काल को पज्जोसमणा अर्थात् पर्युपशमना सर्वथा प्रकार की शान्ति, अपूर्व आत्म-शान्ति की अनुभूति करने का सुअवसर बताया गया है।

पर्युषण के कर्त्तव्य, जो आगे बताये जायेंगे उनमे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह काल वास्तव में ही क्रोधादिक की पर्युपशमना का, शान्ति की साधना का काल है। खमत-खामणा, आलोचना, प्रतिक्रमण एव तपश्चरण द्वारा कषायो की उपशान्ति का प्रयत्न इस काल मे किया जाता है। इसी मे इस पर्युषण शब्द की सार्थकता है।

अगर हम पर्युषण शब्द के इन रहस्यो की चाबी को भूलकर सिर्फ उत्सव और समारोह के चक्कर मे ही पड़े रहे तो हमारी वही स्थिति होगी, जो उन ऊपर की मंजिल पर जाने वाले व्यक्तियों की हुई, जो चाबी नीचे ही भूल गये थे।

पर्युषण को सार्थक बनाने के लिए और आत्म-शुद्धि के लिए हमे इन शब्दो की गहराई पर विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

☆

४

पर्युषण : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बन्धुओ !

'पर्युषण' शब्द के अनेक अर्थ और उनसे व्यक्त होते आध्यात्मिक अभिप्राय आपके सामने स्पष्ट किये गये हैं। यह तो आपने समझ लिया होगा कि 'पर्युषण' आत्मिक शान्ति, मानसिक शुद्धि एवं निर्मलता का सूचक है। अब साथ ही एक प्रश्न खड़ा होता है, पर्युषण पर्व की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि क्या है ? आज आपके समक्ष इसी विषय पर विचार करना है।

साधारण बोलचाल की भाषा में हमारे श्रद्धालु श्रावक या संतजन भी कह देते हैं—पर्युषण पर्व अनादि है, शाश्वत है। किन्तु आज का चिन्तक वर्ग या तर्कशील मानस इस बात को सहसा स्वीकार नहीं करता। वह प्रश्न उठाता है कि क्या पर्युषण शाश्वत एवं अनादि है, या इसकी आदि भी है ?

इस विषय पर हमें प्राचीन आगम एवं उन के भाष्यों के आधार पर विचार करना है।

सर्वप्रथम—जैसा मैंने पर्युषण शब्द का अर्थ किया है। उसमें एक अर्थ कालवाची है, दूसरा भाववाची। पर्युषण वर्षावास से सम्बन्धित कालवाचक जहां है, वहां उसे हम अनादि या शाश्वत नहीं कहेंगे। क्योंकि इस कल्प में वह एक अनवस्थित (अनियत) कल्प माना गया है। वह सिर्फ प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता है, मध्यकाल के बाईस तीर्थंकरों के समय में पर्युषण-कल्प जैसा कोई कल्प विहित नहीं है, न महाविदेह में ही पर्युषण कल्प का कोई विधान है, इस दृष्टि से अर्थात् काल की दृष्टि से पर्युषण कल्प कोई शाश्वत कल्प नहीं है। वह वर्षावास काल में एक स्थान पर रहने का कल्प है, और सिर्फ दो तीर्थंकरों के समय में ही उसका विधान है।

पर्युषण—शब्द को भाववाचक जहां हमने माना है, और उसका अर्थ आत्मा के निकट निवास करना, अथवा कषायों की उपशान्ति करना यह अर्थ लिया है। वहां हम उसे शाश्वत 'पर्व' मान सकते हैं। इस प्रकार हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि पर्युषण—भाव की दृष्टि से शाश्वत है, अनादि है, सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

आत्मस्थ एव वीतराग होने की जैसी आवश्यकता भरतक्षेत्र वासी प्राणी को है, वैसी ही आवश्यकता महाविदेहवासी प्राणी को भी है। प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणो को जितनी वीतरागता और तितिक्षा तथा शांति की अपेक्षा है उतनी हीं मध्यवर्ती श्रमणो को भी है। इस कारण भाव की दृष्टि से पर्युषण न केवल एक युग, एक मास व निश्चित समय सापेक्ष है, किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षण में वह मनाया जा सकता है।

काल दृष्टि से पर्युषण

जैन काल गणना के अनुसार भरत और ऐरवत क्षेत्र मे उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का वीस कोडाकोडी सागर का एक काल-चक्र होता है। वर्तमान अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा चार कोडाकोडी सागर का, दूसरा तीन कोडाकोडी और तीसरा दो कोडाकोडी सागर का माना गया है। इसमे तीसरे आरे के अन्तिम भाग मे जव तक अकर्मभूमि युग (युगलिया युग) चलता है तव तक पर्युषण जैसा कोई पर्व नही होता। जव कर्मभूमि युग का प्रारम्भ होता है, प्रथम तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तित होता है तव पर्युषण का प्रारम्भ होता है। भगवान ऋषभदेव के तीर्थ मे पर्युषण की व्यवस्था थी। उनके निर्वाण के पश्चात् चतुर्थ आरे मे भगवान अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक पर्यषण कल्प जैसी कोई व्यवस्था नही थी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि पर्युषणकल्प काल-सापेक्ष कल्प है। हां, इतना अवश्य है कि प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल मे प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे यह कल्प प्रचलित रहता है इस दृष्टि से इसे हम शाश्वत भी कहें तो कोई आपत्ति नहीं है।

पर्युषण कब ?

पर्युषण कल्प के सम्बन्ध मे एक विकट प्रश्न यह भी खडा है कि पर्युषण कव मनाया जाय ? वास्तव मे पर्युषण कव होता है ?

यह प्रश्न वर्र का छत्ता है, इसे छेडना एक प्रकार का साम्प्रदायिक क्लेश-द्वेष तथा विवाद खडा करना है। जिस वर्ष दो श्रावण या दो भाद्रपद होते हैं उस वर्ष तो जैन समाज की वडी ही विकट स्थिति वन जाती है, अनेक प्रकार के विवाद और फिर उन विवादो से जन्मा—उन्माद-क्लेश पर्युषण की समस्त शांति को खा जाता है और पर्युषण उपशमना का, क्षमायाचना और वीतराग साधना का पर्व तू-तू मैं-मैं का पर्व वन जाता है। ऐसी स्थिति से मन वडा ही खिन्न होता है, पर "दृष्टिरागस्तु पापीयान्"—सम्प्रदाय का राग सवसे वडा पाप है, यह मान कर ही मन को समझाना पडता है।

पर्युषण के सम्बन्ध मे विवाद करने वाले वन्धु अगर थोडा-सा शास्त्रीय ज्ञान रखे, अथवा निष्पक्ष दृष्टि से शास्त्रो का कथन समझने का प्रयत्न करे, तो समाज मे ये विग्रह इतने विकट न वने।

मैंने जैसा वताया कि बाईस तीर्थंकरो के युग मे पर्युषण कल्प जैसा कोई

विधान नहीं है। वर्षावास मे एक नियत स्थान पर नियत काल तक रहने का उनके लिए कोई नियम नहीं है। एक क्षेत्र मे रहने से यदि कोई दोष की संभावना न हो तो वे पूर्व कोटि वर्ष तक भी रह सकते है, अगर दोष की संभावना हो तो एक मास भी नहीं। इसीप्रकार वर्षावास मे जब तक वर्षा होती रहे वे एकस्थान पर निवास करते हैं, वर्षा न हो तो वे कभी भी विहार कर सकते हैं।[1]

किन्तु प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के युग मे ऐसा कल्प नहीं है। उनके लिए निश्चित विधान है कि वे आषाढीपूर्णिमा को एक स्थान पर निर्दोष स्थान देखकर स्थित हो जायें—अर्थात् पर्युषण करलें। यदि आषाढी पूर्णिमा तक उन्हें कोई निर्दोष स्थान की प्राप्ति न हो तो पांच-पांच दिन के अन्तर से अर्थात् श्रावण वदी पंचमी, दशमी आदि यों प्रत्येक पांच दिन के अन्तर से पर्व तिथि को निर्दोष स्थान की प्राप्ति होने पर पर्युषण करले। अगर ऐसा करते-करते एक मास और बीस दिन बीत जाये, तब भी निर्दोष स्थान न मिले तो आखिर आषाढी पूर्णिमा के पचासवें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्लापंचमी को तो निश्चित रूप में ही पर्युषण कर ले, भले ही किसी वृक्ष की छाया मे ही खडा रहकर पर्युषण करना पड़े।[2] किन्तु उस पर्व तिथि (पंचमी) का उल्लंघन न करे और उसके बाद सत्तर दिन तक स्थिरवास रहकर वर्षावास बिताये। समवायांग एवं कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के विषय मे भी यही उल्लेख है कि श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के एक मास बीस दिन व्यतीत होने के पश्चात् पर्युषण किया।[3]

इस पाठ मे एक बात स्पष्ट होती है कि आषाढी पूर्णिमा से भाद्रपद सुदी पंचमी तक मध्य के किसी भी पर्वदिन (पंचमी-दशमी-पूर्णमासी) मे पर्युषण किया जा सकता है[4] किन्तु वर्षावास के सत्तर दिन फिर एक ही स्थान पर बिताना होता है। उसका उल्लंघन करना नहीं कल्पता। क्योंकि भगवान महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन और वर्षावास के सत्तर दिन अवशेष रहने पर पर्युषण किया—इसलिए वर्तमान परम्परा अपने आराध्य देव का अनुसरण कर भाद्रपद शुक्ला पंचमी को पर्युषण करती है।

---

१ दोसाऽसति मज्झिमगा अच्छंती जाव पुव्वकोडी वि।
विचरंति य वासासु वि अकद्दमे पाणरहिए य॥
—बृहत्कल्प भाष्य, ६४३५

२ सवीसति राइमासे पुण्णे जइ वासखेत्तं ण लब्भति, तो रुक्खहेट्ठा वि पज्जोसवेयव्वं। —निशीथ चूर्णि, ३१७३

३ समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ।
—समवायांग ७० वाँ स्थान, आयारदशा ८, कल्पसूत्र

४ अंतरा वि य से कप्पइ, नो से कप्पइ तं रयणिं उवाइणावित्तए।
—आयारदशा ८।७

पर्युषण पर्व की यही ऐतिहासिक एव शास्त्रीय पृष्ठभूमि है।

उक्त सूत्र में ही यह प्रश्न किया गया है कि भगवान ने एक मास और बीस रात्रियाँ व्यतीत होने पर पर्युषण क्यो किया ?

उत्तर मे समाधान देते हुए कहा है—उस समय तब गृहस्थो के घर वास आदि की चटाइयो से बाँध दिए जाते हैं, गोबर आदि से लीप लिए जाते हैं, पानी आदि की नालियाँ साफ करली जाती हैं, मतलब यह है कि गृहस्थ अपने लिए मकान आदि की व्यवस्था कर लेता है और तब साधु-श्रमणो को निर्दोष शुद्ध स्थान मिलना सभव हो जाता है।

जिस प्रकार भगवान ने वर्षाकाल का एक मास बीस रात्रि व्यतीत होने पर वर्षावास का निश्चय किया, उसी प्रकार उनके गणधर, स्थविर, अन्य आचार्य, उपाध्याय आदि भी पर्युषण का निश्चय करते हैं।[1]

पाँच-पाँच दिन से पर्युषण की स्थापना करने के विधान के पीछे एक कारण और भी लक्षित होता है। भगवान महावीर ने जब अपना प्रथम वर्षावास दुईज्जतक तापसो के आश्रम मे करने का निश्चय किया और आषाढी पूर्णिमा के अवसर पर वहाँ पहुँच गये। अपनी साधना प्रारम्भ कर दी तो बीच ही मे एक घटना घट गई। दुष्काल के कारण आस-पास मे कही घास-फूस नही था, पशु-गायें आदि भूखो मरते, आकर तापसो की झोपडियो का घास-फूस खाने लगे। तापस लोग अपनी झोपडियो की रक्षा के लिए दण्ड लेकर उन पशुओ को भगा देते। भगवान महावीर जिस झोपडी मे ठहरे थे, पशु उधर आकर उस झोपडी का घास खाने लगे। भगवान तो अपनी आत्म-साधना मे लीन थे। वे तो अपने स्वर्ण-जटित राजमहलो को ही छोड आये तो झोपडी की क्या फिकर करते। साधना को भग कर दडा ले पशुओ को भगाने मे वे कैसे प्रवृत्त होते। उनको ध्यानस्थ देखकर आश्रमवासी तापसो ने कुलपति से कहा—"यह कैसा आलसी तपस्वी है, जो अपनी झोपडी की रक्षा भी नहीं करता।" तब कुलपति ने श्रमण महावीर से कहा—राजकुमार, तुम क्षत्रिय पुत्र होकर भी अपनी झोपडी की रक्षा नही करते ? इससे तो पशु आश्रम की झोपडियो को उजाड देंगे।"

कुलपति का यह आक्षेपपूर्ण कथन सुनकर भगवान मौन रहे। पर, उनके हृदय के भीतर एक हलचल मच गई, "जहाँ रहने से लोगो मे ऐसी अप्रीति का वातावरण बनता हो, वहाँ रहने से क्या लाभ है ? श्रमण को ऐसे अप्रीति कर स्थान पर नहीं रहना ही ठीक है।" यह विचार कर वर्षाकाल मे ही भगवान वहाँ से विहार कर गये और अस्थिक ग्राम मे आकर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन मे वर्षावास बिताया।

इस अनुभव ने सभवत. यह विचार जगाया हो कि जैसे मुझे वर्षावास में अप्रीतिकरस्थान के कारण विहार करना पडा, वैसे अन्य श्रमणो के समक्ष भी ऐसी

---

१ आयारदसा ८वीं दसा

स्थिति आ सकती है, और तब उन्हें भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़े। इस कारण यह कल्प रखा गया कि आषाढी पूर्णिमा के पश्चात् भी जब तक उपयुक्त स्थान न मिले तो श्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर रहे, ४९ दिन तक रहने पर यह भी अनुभव हो जाता है कि यह स्थान वास्तव में प्रीतिकर है, साधना के लिए निर्दोष है, इसलिए ४९ दिन के बाद ५० वें दिन निश्चित रूप से ही सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर पर्युषण की स्थापना अर्थात् वर्षावास की स्थापना कर दे और फिर ७० दिन तक उसी स्थान पर रहे।

पर्युषण पर्व मनाने की यही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। हमारे विचारक मुनिराज एवं श्रावक यदि उदार दृष्टिकोण से चिन्तन करें तो इस पृष्ठभूमि के आधार पर पर्युषण का विवाद बहुत आसानी से सुलझ सकता है।

पर्युषण मे प्रथम के ५० दिन की अपेक्षा आगे के ७० दिन को अधिक महत्त्व दिया गया है, उन सत्तर दिन के पूर्व निश्चित रूप से पर्युषण करना ही होता है, और उसके बाद सत्तर दिन एक ही स्थान पर बिताना आवश्यक है—इस दृष्टिबिन्दु से यदि हम अगले ७० दिन का महत्त्व एक मत मे स्वीकार कर लें तो विवाद बहुलांश में सुलझ सकता है और पर्युषण पर्व वास्तव मे ही एक स्वर से, एकमत से मनाया जा सकता है। अर्थात् भगवान महावीर की परम्परा का सच्चा पालन हो सकता है।

☆

५

कल्प : एक विवेचन

बन्धुओ !

कल के प्रवचन मे मैंने बताया कि दस कल्पो मे पर्युषण कल्प—एक अनियत कल्प माना गया है, यह प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता है। इस पर स्वभावत ही आप यह जानना चाहेगे कि कल्प क्या होता है, उनमे नियत कल्प कौन से हैं, अनियतकल्प कौन से है ? और पर्युषणकल्प से उसका क्या सम्बन्ध है ? यहाँ पर सक्षेप मे इसी विषय पर विचार करना है।

कल्प का अर्थ

कल्प शब्द जैन परिभाषा का मुख्य शब्द है। इसका अर्थ है—आचार, मर्यादा अथवा समाचारी। कहा है—"कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽत्र प्रकथ्यते ?[1] कल्प शब्द के द्वारा यहाँ साधुओ का आचार बताया गया है।

आचार्य उमास्वाति ने तो कल्प शब्द को और भी अधिक व्यापक रूप दिया है। उन्होंने कहा है—

> यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं च दोषाणाम्।
> कल्पयति निश्चये यत् तत्कल्पमवधेयम्।[2]

जिस कार्य या आचरण से ज्ञान, शील, तप आदि की वृद्धि हो और उनके विघातक दोषों का नाश हो, वह कल्प है।

प्राचीन आचार्यों ने साधु के आचारकल्प का अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

आयारदशा की आठवी दशा, जो पर्युषणा कल्पदशा कहलाती है उसमें साधुओ के विविध आचार नियमो का वर्णन करके २७ प्रकार की समाचारी बताई है।

---

१ पर्युषणाकल्प सूत्र, पृ० १

२ प्रशमरति प्रकरण १४३

कल्प के नाम से जैन परम्परा मे दश कल्प भी बहुत प्रसिद्ध है। बृहत्कल्प-भाष्य मे इन दश कल्पो का नाम व वर्णन इस प्रकार किया है—

आचेलक्कुद्देसिय
सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
वतजेट्ठ पडिक्कमणे,
मास पज्जोसवणा कप्पे।[1]

१. आचेलक्य	६ व्रत
२ औद्देशिक	७ ज्येष्ठ
३ शय्यातर पिंड	८. प्रतिक्रमण
४ राजपिंड	९. मासकल्प
५ कृतिकर्म	१०. पर्युषण कल्प

ये दस कल्प बताये गये है।

सक्षेप मे इनका वर्णन इस प्रकार है—

१ आचेलक्य—'चेल' का अर्थ है वस्त्र, और अचेल का अर्थ है—वस्त्र रहित। किन्तु शब्द शास्त्र की दृष्टि से अचेल का अर्थ—'अल्प वस्त्र' भी होता है। कम वस्त्र या कम मूल्य वाले सादे वस्त्र रखना भी एक प्रकार की अचेलकता ही है। आचाराग, उत्तराध्ययनसूत्र एव कल्पसूत्र की टीका मे अचेलक का अर्थ—'कम वस्त्र' रखना ही किया है।[2]

जैन श्रमणो मे दो प्रकार के श्रमण बताये गये है—जिनकल्पी श्रमण और स्थविरकल्पी श्रमण। जिनकल्पी श्रमण भी पहले स्थविरकल्पी होते हैं, फिर विशेष अध्ययन एव विशिष्ट सहनन के आधार पर उन्हें जिनकल्प स्वीकारने की अनुमति शास्त्रों ने दी है। जिनकल्पी श्रमण—वस्त्र नहीं रखते, विशेष प्रकार का अभिग्रह आदि करके प्राय. एकात एव निर्जन स्थान मे ध्यान कायोत्सर्ग आदि मे लीन रहते हैं।

स्थविरकल्पी श्रमण वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि शास्त्र-विहित उपकरण रखते हैं। उनके वस्त्र आदि की भी मर्यादा शास्त्र मे बताई है। मर्यादा के अनुसार ही उनका आचरण होता है।

प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण अचेलक होते है—अचेलक का अर्थ टीकाओ मे किया है—श्वेत वस्त्र, मर्यादानुकूल अल्पमूल्य वाले वस्त्र।[3]

सचेलक का अर्थ है—किसी भी रग के, कितने ही मूल्य के वस्त्र रखना।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य ६३६४

२. (क) अचेल —अल्पचेल —आचाराग टीका, पत्र २२१-२
(ख) उत्तरा० बृहद्वृत्ति (ग) कल्पसूत्र सुबोधिका, पत्र ३

३. सन्मार्गबोधिनी, पृ० १

यह मध्य के बाईस तीर्थंकरो का कल्प है, अर्थात् वे श्रमण इतने विवेकशील तथा सयम निष्ठा वाले होते थे कि उनके लिए वस्त्र-पात्र आदि की विशेष मर्यादा की भी जरूरत नही, अपने विवेक के अनुसार वे सदा ही जागरूक रहते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र मे केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से यही प्रश्न किया है—भगवान महावीर का धर्म अचेलक है, और भगवान पार्श्वनाथ का सचेलक। इस भेद का क्या कारण है ?

गौतम स्वामी ने बडा ही सुन्दर समाधान देते हुए कहा है—ये उपकरण आदि तो साधना के बाह्य निमित्त हैं, लोको मे वेष के कारण साधु की पहचान होती है,[1] इसलिए वस्त्र आदि की मर्यादा समयानुसार की गई है, वास्तविक तत्त्व तो वीतरागता है और वह सब तीर्थंकरो के धर्म-शासन मे एक समान मान्य है ? इसलिए बाह्य भेद कोई महत्व नही रखता। मुख्य बात है, वस्त्र आदि के प्रति ममत्व नही रखना। फिर भी समय के अनुसार मनुष्यो की मनोवृत्ति देखकर कल्प के, मर्यादा के दो रूप कर दिये—सरल एव विवेकशील साधक चाहे जैसे वस्त्र पहनें, तथा ऋजु जड एव वक्रजड (प्रथम, अन्तिम तीर्थंकर युग के) साधक सिर्फ श्वेत तथा अल्पमूल्य वाले वस्त्र पहने तो अचेलकल्प का अर्थ हुआ—श्वेत, प्रमाणोपेत एव कम मूल्य वाले सादे वस्त्र धारण करना।

२ औद्देशिक—इसका अर्थ है—श्रमण को देने के उद्देश्य से निर्मित वस्त्र, भवन, अन्न-जल आदि। प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए औद्देशिक आहार आदि निषिद्ध है, अर्थात् यदि किसी एक श्रमण के लिए भी आहारादि बनाया गया है तो न वह श्रमण उसे ग्रहण करें और न अन्य श्रमण ही। किन्तु बाईस तीर्थंकरो के युग मे यह विधान है कि—जिस श्रमण को निमित्तकर आहारादि बनाया है, उसे वह श्रमण तो ग्रहण नही करता, किन्तु अन्य श्रमण ग्रहण कर सकते हैं। यह औद्देशिक कल्प है।

३ शय्यातर-पिण्ड—शय्या का अर्थ है—उपाश्रय, स्थान आदि। साधु-सन्तो को ठहरने के लिए निर्दोष स्थान आदि देने वाला ससार समुद्र से तर जाता है। इसीलिए उसे शय्यातर कहा है, इससे स्थान-दान का महत्व झलकता है। स्थान देने वाले गृहस्थ के घर से श्रमण अशन, पान-स्वादिम-खादिम वस्त्र औषधि आदि ग्रहण नहीं करता। उस शय्यातर का आहार आदि 'शय्यातर पिण्ड' कहलाता है। यह कल्प सभी तीर्थंकरों के युग मे समान रूप से पालनीय होता है।

४. राजपिण्ड—इसका अर्थ है—राजा का भोजन। राजा आदि का भोजन, विशेष गरिष्ठ, मादक, उत्तेजक माना गया है। साथ ही राजाओं की भोजनशाला आदि मे भिक्षा के लिए जाने से अनेक प्रकार के दोष व विघ्न-व्यवधान भी होते हैं,

---

१. लोगे लिंगप्पओयण—उत्तरा० २३/३२

इस कारण साधु को राजपिण्ड लेना निषिद्ध किया है। इसका मुख्य उद्देश्य है—रस-लोलुपता न बढ़े, अनेषणीय आहार ग्रहण करने का प्रसंग न आये।

५ कृतिकर्म—सयम आदि मे अपने से ज्येष्ठ एव गुणो मे श्रेष्ठ श्रमणो का बहुमान करना, उन्हे वन्दना करना तथा उनकी विनय-भक्ति करना कृतिकर्म कल्प है, यह कल्प सार्वकालिक है—चौबीस तीर्थंकरो के समय मे एक समान है। इससे यह बात भी ध्वनित होती है कि—जिन शासन मे 'विणयमूले धम्मो' धर्म का मूल विनय कहा है, यह एक शाश्वत सिद्धान्त है। किसी भी युग मे विनय का महत्व और जीवन मे उसकी उपयोगिता एक समान रही है।

६. व्रत—यह छठा कल्प है। असत् से निवृत्ति करना तथा सत् (शुभ) मे प्रवृत्ति करना—यह व्रत का अर्थ है। व्रत से सिर्फ त्याग या निवृत्ति-विरति अर्थ ग्रहण करना उसका एकागी अर्थ है। जैन धर्म अनेकान्तवादी धर्म है, अत यह निवृत्ति मे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति मे निवृत्ति का समन्वय करता है। जैसे पाँच समिति—यह प्रवृत्ति रूप धर्म है, तीन गुप्ति—यह निवृत्ति रूप धर्म है। अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा से निवृत्ति तथा दया आदि मे प्रवृत्ति रूप—उभयात्मक धर्म है।

भगवान ऋषभदेव एव भगवान महावीर के युग मे पाँच महाव्रत रूप धर्म प्रवृत्त होता है, जबकि मध्य के बाईस तीर्थंकरो के युग मे चतुर्महाव्रतधर्म जिसे चातुर्याम धर्म कहा जाता है, वह रहता है।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि तीर्थंकरो के युग मे धर्म-अर्थात् व्रतो मे यह भेद क्यों किया गया है? यह प्रश्न आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ परम्परा के उत्तराधिकारी केशी श्रमण के मन मे भी उठा हुआ था और उन्होने भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गणधर इन्द्रभूति से निस्सकोच भाव से पूछ भी लिया—

> चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पचसिक्खिओ।
> देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी।
> एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किनु कारण।
> धम्मे दुविहे मेहावी कहं विप्पच्चओ न ते?[1]

यह—चातुर्याम धर्म जो महामुनि पार्श्वनाथ ने बताया है और यह पचयाम धर्म—जो भगवान वर्धमान ने कहा है—इनमे यह अन्तर क्यो है? जबकि दोनो ही एक कार्य, एक लक्ष्य—मोक्ष के लिए प्रवृत्तिमान है, दोनो का लक्ष्य एक है तो फिर मार्ग (धर्म) दो क्यो? क्या आपको इसमे कुछ उलझन या सशय जैसा नहीं होता?

इस ऐतिहासिक प्रश्न के उत्तर मे ज्ञान एव प्रतिभा के अक्षय धनी गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया वह मानव-स्वभाव का एक सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्होंने कहा—

---

१ उत्तरा० २३-२४

पुरिमा उज्जुजडा उ वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुहे कहे॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ चरिमाण दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाण तु सुविसोज्झो सुपालओ॥

प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु (सरल) एव जड (अल्प बुद्धि) होते है, और अन्तिम तीर्थंकर के समय के साधु स्वभावत ही वक्र और जड होते है। बीच के तीर्थंकरो के युग मे साधु-श्रमण ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार बताये गये है।

प्रथम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प—आचार को यथावत् ग्रहण करना—यथार्थ रूप मे समझ पाना कठिन होता है और अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प को यथार्थ—सम्यक् रूप में समझ पाना और उसका पालन करना भी कठिन होता है। मध्यवर्ती तीर्थंकरो के मुनियो द्वारा कल्प को यथावत्-ग्रहण करना और उसका सम्यक् रूप मे पालन करना सरल है। यह उनके स्वभाव का ही अन्तर है। युग काल आदि के प्रभाव से मनुष्य स्वभाव मे अन्तर आता है, और जब मनुष्य स्वभाव मे अन्तर आता है तो नियम आदि मे भी, मर्यादा आदि मे भी अन्तर करना पडता है।

गौतम स्वामी का यह उत्तर-चातुर्याम धर्म एव पचयाम धर्म के भेद का मूल कारण स्पष्ट करता है। मानव स्वभाव के कारण जिस प्रकार नीतियो मे परिवर्तन होता रहा है, सर्वप्रथम 'हकार' नीति से ही मनुष्य पापाचरण से दूर हट जाता था 'हैं' आश्चर्यपूर्वक इतना किसी को कह दिया तो बस, वह इसे बहुत बडा दण्ड समझकर पापाचार से दूर हट जाता था, धीरे-धीरे मनुष्य स्वभाव बदलता गया, हकार से मकार और धिक्कार नीति पर आ गया। फिर तो धिक्कार देने पर भी जब पापाचार से निवृत्त नही होने लगा, तो दण्ड विधान का विकास हुआ और अन्त मे मृत्युदण्ड तक आ गया। अब तो मनुष्य इतना बेशर्म या पाप का आदी हो गया कि मृत्युदण्ड के भय से भी बाज नही आता। तो यह मानव-स्वभाव का परिवर्तन है। यही परिवर्तन हमें धर्म पक्ष मे भी दिखायी देता है। जैसा गौतम स्वामी कह रहे हैं कि प्रथम तीर्थंकर के समय का मनुष्य अल्प बुद्धि वाला तो अवश्य था, पर सरल! मध्य के तीर्थंकरो के युग मे मनुष्य सरल भी था और बुद्धिमान भी। बुद्धिमान को इशारा ही काफी होता है, इसलिए उसके लिए धर्म के नियमोपनियम भी उतने ही सरल एवं कम थे, वह अधिकतर कृत्य-अकृत्य का विवेक स्वय की बुद्धि से ही कर लेता था। अन्तिम तीर्थंकर के युग मे मानव स्वभाव मे विचित्र परिवर्तन आ गया, अल्पबुद्धि मनुष्य वक्र-अर्थात् चालाक हो गया, तर्कबाज बन गया, एक बात मे दस बात निकालने वाला, एक गली मे दस गलियारे निकालने वाला बन गया। इस प्रकार उसका स्वभाव वक्र एवं जड हो गया।

ऋजुजड़ और वक्रजड़ : दो उदाहरण

ऋजु जड़ एवं वक्र जड़ मनुष्य के स्वभाव की विचित्रता को समझाने के लिए प्राचीन आचार्यों ने दो-तीन उदाहरण दिये हैं।

भगवान ऋषभदेव के समय का एक श्रमण शौच के लिए बाहर गया। वापस आने में काफी विलम्ब हो गया तो गुरु ने पूछा—वत्स ! आज इतना विलम्ब क्यों हो गया ?

शिष्य ने कहा—गुरुदेव ! मार्ग में एक नट नृत्य कर रहा था, मैं उसका नाच देखने के लिए रुक गया, इसी कारण कुछ देर हो गयी। गुरुजी ने कहा—देखो, हम श्रमण हैं, श्रमणों को नट का नृत्य नहीं देखना चाहिए।

शिष्य ने 'तहत्ति' कहकर गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य कर लिया।

कुछ दिन बाद फिर एक बार ऐसा ही प्रसंग बना। शिष्य को बाहर जाकर आने में बहुत अधिक समय लग गया तो गुरुजी ने पूछा—आज इतनी देर कैसे लग गई ?

शिष्य ने बड़ी सरलता से कहा—मार्ग में एक नर्तकी नाच रही थी। बड़ा अद्भुत और मनोहारी नृत्य था, उसे देखने के लिए ही कुछ देर रुक गया।

गुरु ने कहा—"तुम्हें उस दिन निषेध किया था, फिर भी तुम गुरु आज्ञा का ध्यान नहीं रखते !" शिष्य ने कहा—गुरुदेव ! आपने तो नट का नृत्य देखने का निषेध किया था, आज नटनी का नृत्य था ''

शिष्य की मूर्खता भरी सरल बुद्धि पर तरस खाकर गुरु ने कहा—चाहे नट का नृत्य हो या नटनी का, राग का कारण होने से ही तो उसका निषेध किया है। अतः भविष्य में ध्यान रखना, किसी भी प्रकार का नृत्य देखना नहीं !"

विनीत शिष्य ने अपनी भूल स्वीकार कर ली और भविष्य में सावधान रहने का प्रयत्न करने लगा।

आचार्यों ने इस मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मध्यकाल के बाईस तीर्थंकरों के युग में भी जब ऐसा प्रसंग आया, गुरु ने शिष्य को नट का नृत्य देखने का निषेध किया तो उन्होंने स्वयं ही अपनी बुद्धि से समझ लिया—नट हो या नटनी, नृत्य देखना वास्तव में राग का कारण है, इसलिए गुरुजी का आशय नृत्य मात्र को देखने का निषेध करने से ही है।

और अन्तिम तीर्थंकर के युग के साधुओं के सामने जब ऐसा प्रसंग बना, तो उल्टा चोर कोतवाल को डांटे वाली बात होने लगी— शिष्य बोले—आपने पहले ही क्यों नहीं साफ बता दिया कि नट का नृत्य नहीं देखना चाहिए और नटनी का भी नहीं देखना चाहिए। जब आपने नट का नृत्य देखने का निषेध किया तो हमने समझ लिया—नटनी का नृत्य देखने का निषेध नहीं है।"

इस उदाहरण मे यह बात झलकती है कि प्रथम तीर्थंकर के युग का मनुष्य भले ही अल्प प्रज्ञा वाला था, पर सरल होता था, अपनी भूल को शीघ्र ही स्वीकार कर लेता था। मध्य युग का मानव बडा सरलाशय और प्रज्ञावान—अर्थात् बुद्धिमान भी होता था और सरल भी, एक शब्द मे ही वह वक्ता का पूरा आशय समझ लेता और उसके अनुसार आचरण भी करता। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के युग मे काल-प्रभाव ऐसा हुआ कि मनुष्य की मनोवृत्ति बडी तर्कशील हो गई। वह कुटिलता की ओर अधिक झुक गया।

एक दूसरा उदाहरण दिया गया है—प्रथम तीर्थंकर के युग का एक श्रमण भिक्षा लेने गया। भिक्षा लेकर वापस आया और गुरु के सामने पात्र खोला तो उसमे एक ही वडा था। गुरु ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—ऐसा कौन दाता मिला, जिसने एक ही वडा दिया ?

शिष्य ने कहा—गुरुदेव ! गृहस्थदाता ने तो मुझे वडी भावना के साथ ३२ गरम-गरम वड़े दिये थे। मैंने सोचा—ये सारे वड़े गुरुजी अकेले तो नहीं खायेंगे, आधे मुझे भी देंगे, तो वहाँ पहुँचने तक वडे ठडे हो जायेंगे, क्यो न मैं अपने हिस्से के कुछ वड़े तो गर्मागर्म खालूं। मैंने वह वडे गर्मागर्म खा लिए, वड़े स्वादिष्ट लगे। फिर सोचा १६ वडो मे से भी गुरुजी ८ तो मुझे देंगे ही। इनको भी क्यों ठडे किये जायें। यह सोचकर आठ खा लिये, फिर इसी तरह ४ और फिर २ वडे खा गया तो अव एक वडा ही वचा। इस प्रकार ३१ वड़े तो मैंने खा लिये।

गुरुजी ने कहा—वत्स ! मुझे विना खिलाए ये वड़े तेरे गले के नीचे कैसे उतर गये ?

सरल स्वभावी शिष्य ने उस एक वडे को हाथ मे उठाकर मुंह मे डालते हुए कहा—देखिए गुरुजी ! यो सव वडे गले के नीचे उतर गये।

शिष्य की सरलतापूर्वक मूर्खता पर गुरुजी की आँखें कुछ छलछला आई। उन्होने कहा—वत्स ! पहली वात तो मार्ग मे चलते हुए खाना ही नही चाहिए और स्थान पर आकर भी गुरु को दिखाये विना खाना नहीं—तुम्हारा यह कार्य श्रमणाचार के विरुद्ध है।"

शिष्य ने अपनी भूल स्वीकार कर ली और भविष्य मे ऐसी भूल न करने का वचन दिया।

इसी के साथ वक्र जड—मनोवृत्ति का परिचय देने वाला एक अन्य उदाहरण भी दिया गया है। एक सेठ का पुत्र वहुत वाचाल था। एक दिन पुत्र को शिक्षा देते हुए पिता ने कहा—पुत्र ! वडो के सामने नही वोलना चाहिए।

कुटिल पुत्र ने सोचा—पिताजी की शिक्षा पिताजी को ही देनी चाहिए। एक वार सभी घर वाले वाहर गये थे। घर पर अकेला लडका था। घर के सभी दरवाजे वन्द कर वह एक कमरे मे जाकर वैठ गया। सध्या के समय सव लोग वाहर से आये। दरवाजे वन्द देखकर सेठ ने पुत्र को पुकारा। वह भीतर चुपचाप वैठा रहा। खूब

आवाजें लगाने पर भी वह बोला नही। सेठ का हृदय आशका से धडकने लगा। सोचा—पुत्र को कही कुछ हो तो नही गया है? आखिर चिन्तातुर होकर वह दीवार लाघकर घर मे घुसा तो लडका सेठ को देखकर हँसने लगा। सेठ ने भी उसको मला-बुरा हँसता देखकर कहा—मूर्ख! इतनी आवाजें देने पर भी बोला क्यो नही? तुझे क्या हो गया था?

लडका कुटिल हँसी के साथ बोला—आपने ही तो कहा था—बडो के सामने बोलना नही चाहिए।"

तो यह है वक्र एव जड व्यक्ति की मन स्थिति। मन स्थिति के इस अन्तर के कारण ही गौतम स्वामी ने कहा—

पुरिमा उज्जुजडा उ वक्कजडा य पच्छिमा।

प्रथम तीर्थंकर के ऋजुजड एव अतिम तीर्थंकर के समय के मनुष्य वक्र जड होते है।

हाँ, तो मैं बता रहा था कि प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे पचमहाव्रत धर्म तथा मध्य तीर्थंकरो के समय मे चातुर्याम धर्म होता है। मध्यकालीन युग के मनुष्य सरल प्राज्ञ होते है अत. वे कचन और कामिनी को एक ही व्रत मे समाविष्ट कर देते है, अर्थात् धन-धान्य आदि परिग्रह की भांति वे स्त्री को भी परिग्रह मानकर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत को एक ही व्रत मानकर उसका आचरण करते हैं। इस प्रकार इस व्रत कल्प मे व्रतो की गणना का अन्तर रहता है, यद्यपि नियम का कोई अन्तर नही है, किन्तु चातुर्याम तथा पचमहाव्रत—दो प्रकार का कल्प होने से व्रतकल्प मे अन्तर माना गया है।

७ ज्येष्ठकल्प—इस कल्प के तीन अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किये है—

(१) जैनधर्म गुण प्रधान होने पर भी 'पुरुष-ज्येष्ठ' परम्परा को मान्य करता है। कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी भी आज के दीक्षित श्रमण को वन्दना एव उसका आदर-बहुमान करती है।[1]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—प्रथम एव अतिम तीर्थंकर के समय मे दीक्षा ग्रहण करते समय पहले सामायिक चारित्र ग्रहण किया जाता है और बाद मे छेदोपस्था-पनीय चारित्र। छेदोपस्थापनीय चारित्र के आधार पर ही श्रमणो मे कनिष्ठता एव ज्येष्ठता का क्रम रखा जाता है। आज की भाषा मे सामायिक चारित्र को छोटी दीक्षा

---

१ वरिससय दिक्खिआए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदन नमसणेण विणएण सो पुज्जो।

—कल्पसूत्र टीका मे उद्धृत गाथा

तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र को वडी दीक्षा कहा जाता है ।[2] सामायिक चारित्र के बाद जिस क्रम से छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण किया जाता है, उसी क्रम से श्रमणो को छोटा-वडा माना जाता है। मध्यकाल के बाईस तीर्थंकरो के युग मे सिर्फ सामायिक चारित्र ही होता है, अत उनमे ज्येष्ठकल्प नहीं होता ।

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ यह भी है कि पिता-पुत्र, राजा-मत्री आदि यदि एक साथ दीक्षा ग्रहण करें तो उनमे पद के अनुसार उन्हें ज्येष्ठ रखा जाता है कभी-कभी पुत्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली, सामायिक चारित्र ग्रहण कर लिया और उसके वाद पिता के मन मे वैराग्य जागृत हुआ और वह भी दीक्षा लेने को तत्पर हो गया तो उसकी प्रतीक्षा मे एक-दो मास से छह मास तक पुत्र को सामायिक चारित्र मे (छोटी दीक्षा) मे ही रखा जा सकता है, पिता को दीक्षा देकर पहले उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र देकर वडा किया जा सकता है।

८ प्रतिक्रमण—यह साधना का प्रमुख अग है। आत्मालोचन एव आत्म-शुद्धि का श्रेष्ठतम साधन प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है—"अपने आत्म-स्वभाव मे वापस लौटना।"

इस विपय मे जिनदासगणी महत्तर ने बताया है कि प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे उभयकाल नियमित रूप से प्रतिक्रमण करने का विधान है। साथ ही दोष लगने पर तत्काल प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कड) लेने का भी विधान है, किन्तु वाईस तीर्थंकरो के समय मे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण द्वारा दोप-विशुद्धि की जाती है, उभयकाल नियमित प्रतिक्रमण का विधान वहाँ नही है।

प्रतिक्रमण आत्म-साधना का महत्वपूर्ण अग और पर्युपण मे विशेष महत्व का विषय होने के कारण इस पर अगले प्रवचन मे हम स्वतन्त्र रूप से भी विचार करेंगे।

९ मासकल्प—श्रमणो के लिए 'विहार चरिया इसिणं पसत्था' कहा गया है। विहारचर्या श्रमण के लिए श्रेष्ठ है। वह नदी की तरह रमता रहता है ताकि अनेक ग्राम-नगर उसकी पवित्र चरण धूलि मे पावन होते रहे।

विहार की दृष्टि से दो काल वताये गये हैं—वर्षाकाल तथा ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल आपाढी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक का है, वाकी आठ महीने का काल ऋतुवद्ध काल कहलाता है। वर्षाकाल मे श्रमण चार मास तक एक स्थान पर निवास करता है, किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त एक मास से अधिक एक स्थान पर नही रुकता। यह प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो का कल्प है। मध्यकाल के तीर्थंकरो के युग मे मास

---

२ श्री आदीश्वर महावीरयो साधूना'' लघुत्व वृद्धत्त्व वृहद्दीक्षया गण्यते । द्वाविंशति तीर्थंकर साधुना तु दीक्षाया भवन्त्या मत्यामेव लघुत्व वृद्धत्व गण्यते ।

—कल्पद्रुम कलिका, टीका, पृ० २

कल्प जैसा कोई नियम नही है। यदि दोषापत्ति न हो तो वर्षों तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं।

मासकल्प के पीछे मुख्य दृष्टि यही है कि श्रमण एक स्थान पर एक कर रहे तो उसे स्थान-अशन-पान एव स्नियादिक की स्नेहासक्ति भी बढ़ सकती है, दूसरे अनेक स्थानो को श्रमण के विहार का लाभ नहीं मिल पाता। इसीलिए कहा जाता है—'साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय।' हा, कारण-विशेष—वृद्धत्व, रोग आदि कारणों से एकमास से अधिक भी एक स्थान पर रहा जा सकता है।

१० पर्युषणाकल्प—यह दसवाँ कल्प है। इस सम्बन्ध मे पहले काफी विचार किया जा चुका है। यह कल्प मुख्यत प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो के काल मे ही विहित है, क्योंकि उनके लिए ही मासकल्प का विधान है, मासकल्प एव वर्षावास काल के साथ ही पर्युषण का सम्बन्ध है। पर्युषण पर्व अर्थात् भाद्रपद शुक्ला पचमी को ही सवत्सरी पर्व के रूप मे मनाने की परम्परा है। यह आज जैन जगत का सर्वमान्य एव सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक पर्व है।

इन दस कल्पो मे छह कल्प अनवस्थित कल्प कहे गये है, जैसे—

१ आचेलक्य	४. राजपिण्ड
२ औद्देशिक	५. मासकल्प
३. प्रतिक्रमण	६ पर्युषणाकल्प

अर्थात् ये छह कल्प प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही विहित है।

निम्न चार कल्प अवस्थित अर्थात् स्थिर कल्प है—

१ शय्यातर पिंड
२ चातुर्याम धर्म (व्रतकल्प)
३ पुरुष ज्येष्ठ कल्प
४. कृति कर्म

ये चौबीस ही तीर्थंकरो के समय मे मान्य है।[1]

☆

---

1 आवश्यक नियुक्ति-मलयगिरि वृत्ति, पत्र १२१ :—
सेज्जायरपिंडम्मि य चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥

९

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण : एक आवश्यक कृत्य

बन्धुओ,

'पर्युषणा कल्प' के प्रसग पर दशकल्पो पर कल कुछ विचार किया गया था। जैन श्रमणो के लिए जो दस कल्प बताये गये हैं उनमे आठवा कल्प है प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण का आत्म-साधना के लिए अन्यतम महत्व है, पर्युषण का भी इसके साथ गहरा सम्बन्ध है। साधु वर्ग के लिए पर्युषण मे पांच विशेष कर्तव्य बताये गये हैं—

१ सावत्सरिक प्रतिक्रमण

२ केशलोच

३. यथाशक्ति तपस्या

४ आलोचना (आलोयणा)

५ क्षमापना

ये पाँच कर्तव्य श्रमण को पर्युषण मे अवश्य करने होते हैं, श्रावक इनमे से चार की आराधना करता है, क्योकि केशलोच का विधान सिर्फ श्रमण वर्ग के लिए ही है।

१ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

जैनशास्त्रो मे साधु और श्रावक को निरन्तर आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है। क्योकि कर्म-मल से युक्त आत्मा ही ससार मे परिभ्रमण करता है, उस कर्म मल को दूर हटाकर आत्मा को निर्मल कषाय मुक्त करना ही हमारी साधना का लक्ष्य है। इसलिए आचार्यों ने कहा है—'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'-कषायो से मुक्त हो जाना ही वास्तव मे मुक्ति है, तो आत्म-विशुद्धि के लिए श्रावक और श्रमण दोनो को पल-पल जागरूक रहना होता है। उनके लिए छह प्रकार के आवश्यक कृत्यो का विधान है, जिसे हम षडावश्यक कहते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

१ सामायिक—समभाव की साधना

२. चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थंकर देव की स्तुति

३. वन्दन—सद्गुरुओं को नमस्कार

४ प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना

५. कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग

६ प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग[1]

ये छह आवश्यक कृत्य प्रातःकाल एवं सायंकाल प्रतिदिन किये जाते हैं, यह एक प्रकार का आत्म-स्नान है, जिससे दोषों की शुद्धि होकर आत्मा उजली हो जाती है। इनके क्रम पर विचार करने से ही पता चलता है कि सर्वप्रथम आत्मा समभाव (वीतराग भावना) में लीन होता है, फिर समभाव स्थित आत्मा देव-गुरु आदि की स्तुति एवं वन्दना करने में तन्मय हो जाता है, उसके समक्ष एक और महापुरुषों का उदात्त और निर्मल जीवन चरित्र रहता है, उस आदर्श को समक्ष रखकर वह शान्त चित्त से आत्मनिरीक्षण करता है, अपने दोषों पर विचार करता है, भूलों का प्रायश्चित्त कर मन को हल्का और आत्मा को निर्मल बना लेता है, उसके बाद शरीर के ममत्व भाव से हटकर ध्यान में स्थिर हो जाता है और फिर यथाशक्ति आहार आदि का प्रत्याख्यान कर तप साधना की अग्नि में पुराने कर्मों को भस्मसात् करने का प्रयत्न करता है।

इन छह आवश्यक कृत्यों में प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है। जैसे वस्त्र को धोये बिना जैसे वह शुद्ध नहीं होता वैसे ही प्रतिक्रमण के बिना आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती। इसलिए प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार करना है।

वैसे तो प्रतिक्रमण छह आवश्यकों में चौथा आवश्यक है, किन्तु यह शब्द इतना जन-प्रचलित हो गया है कि इसी शब्द से षडावश्यकों का बोध हो जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

> स्वस्थानाद् यत् परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः।
> तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

आत्मा-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अपने स्थान (केन्द्र) से हटकर प्रमाद के वशीभूत होकर पर-स्थान, राग-द्वेष, मोह, विषय-कषाय आदि स्थान (पर-भाव) में चला जाता है। उसका यह परभाव में जाना अतिक्रमण कहलाता है। यह परभाव-गमन आत्मा के पतन का कारण है। अगर उसे परभाव से हटाकर स्वभाव में नहीं लाया गया तो उसका उत्थान या ऊर्ध्वगमन नहीं हो सकता। आत्मा को ऊपर उठाने के लिए, उसे विशुद्ध और पवित्र बनाने के लिए उसे लौटाकर स्व-स्थान में लाना आवश्यक है। यह पर-स्थान से लौटाकर वापस स्व-स्थान में लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का सीधा अर्थ है वापस लौटना। अतिक्रमण का अर्थ है सीमा का उल्लंघन, और वापस अपनी सीमा में आना प्रतिक्रमण है।

कल्पना करो—एक मनुष्य चलता-चलता ठोकर खाकर कहीं गिर पड़ा। पैर की हड्डी में चोट लगी, वह अपने स्थान से हटकर दूसरी हड्डी पर चढ़ गई, अपनी जगह से खिसक गई तो, उसे हम फ्रेक्चर कहते हैं। यह फ्रेक्चर शरीर के किसी भी भाग में हो, कितना कष्टदायक होता है, कितनी लम्बी पीड़ा होती। डाक्टर लोग, हड्डी के

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र

विशेपज्ञ एक्सरे आदि से पता लगाते हैं कि वास्तव मे कौनसी हड्डी मे चोट है, कौनसी हड्डी कहाँ से खिसक कर किधर चली गई है और उसके बाद डाक्टर क्या करता है ? उस हड्डी को वापस अपनी जगह पर स्थिर करने के लिए पक्का पाटा बाँधता है या आपरेशन करके उसे वापस अपने स्थान पर फिट करता है। तो सोचिए, शरीर की हड्डी भी जब अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाती है, तो वह असह्य वेदना का कारण हो जाती है और आप हजारो रुपये खर्च कर वापस उसको अपनी जगह पर स्थिर कराने का प्रयत्न करते हैं।

तो, यह हमारी आत्मा जब अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाती है तो क्या आत्मा को कष्ट नही होगा ?

स्व-स्थान क्या है और पर-स्थान क्या है ? इसको सक्षेप मे आप यो समझ लें—

स्व-स्थान	परस्थान
क्षमा	क्रोध
विनय	अहकार
सरलता	माया
सतोष	लोभ
समभाव	राग-द्वेप रूप विपय भाव
दान-उदारता	कृपणता
आत्मविश्वास	सशय, शका-कांक्षा
दयालुता	क्रूरता
सत्य	झूठ
ब्रह्मचर्य	विपय-विकार

इसी प्रकार जितने भी सद्गुण हैं, वे सब स्व-स्थान हैं, वे आत्मा के निजगुण हैं, इसलिए वे अपने है, दुर्गुण पर-स्थान है। प्रतिक्रमण और कुछ नही करता—सिर्फ पर-स्थान में गई हुई आत्मा को वापस स्व-स्थान मे लाने का प्रयत्न है। अर्थात् आत्म-रमण की एक साधना है। कई प्रकार से आत्मा को पर-भाव से स्व-भाव में लाया जाता है। इसलिए प्रतिक्रमण के आठ स्वरूप बताये गये हैं।

आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने प्रतिक्रमण के आठ भेद किये हैं। उन पर विचार करने से प्रतिक्रमण की सर्वांग विधि हमारे ध्यान मे आ जायेगी।

१ प्रतिक्रमण—उन्ही पैरो से वापस लौटना। जैसे अगर असत्य भाव मे गये हो तो वापस सत्य की ओर मुडना, क्रोध मे गये हो तो वापस क्षमा की ओर मुडना।

२ प्रतिचरणा—सयम के सभी अगो मे भली प्रकार चलना और सावधानी पूर्वक निर्दोष संयम पालना।

३ परिहरणा—सयम का विघात करने वाले दोषो को टालते रहना।

४ धारणा—जिन कार्यों का शास्त्रो मे निषेध किया है उनको नही करना ।

५ निवृत्ति— यदि प्रमादवश किसी दोष सेवन की ओर बढा हो तो तुरन्त उससे निवृत्त होना ।

६ निन्दा—आत्म-साक्षि से अपनी अशुभ प्रवृत्ति की निन्दा करना ।

७ गर्हा—गुरुजनो की साक्षि से अपने कृत अशुभ की निन्दा करना ।

८ शुद्धि—कृत-पाप का प्रक्षालन करने के लिए तपस्या आदि करना, जिससे आत्म-शुद्धि हो ।

आत्मा को स्वभाव मे स्थिर करना, तथा पाप प्रवृत्ति से वापस मोडना—यही प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य है और ये आठ उसके मार्ग हैं, जिनके द्वारा पूर्णरूप से आत्म-शुद्धि की जा सकती है ।

पाँच भेद

प्रतिक्रमण के सामान्यत पाँच प्रकार बताये गये हैं ।

१. दैवसिक—दिवस सम्बन्धी दोषो की आलोचना करने के लिए सूर्यास्त के बाद एक मुहूर्त तक काल में प्रतिक्रमण करना, दैवसिक प्रतिक्रमण है ।

२. रात्रिक—रात्रि मे जाने-अजाने हुए दोषो की प्रात काल आलोचना करना, रात्रिक प्रतिक्रमण है ।

३. पाक्षिक प्रतिक्रमण—पन्द्रह दिन के बाद चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा जिस दिन आती हो उस दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करना ।

४ चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—चातुर्मासिक पूर्णिमा तीन हैं—आषाढी पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा एवं फाल्गुन पूर्णिमा, इनकी पक्खी को प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है ।

५ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण—पर्व (संवत्सर) की समाप्ति के दिन वर्ष भर मे हुए दोषो की आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है ।

हमे यहाँ सावत्सरिक प्रतिक्रमण के विषय मे थोडा सा विचार करना है ।

पिछले प्रकरण मे बताया जा चुका है कि प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो का कल्प सप्रतिक्रमण कल्प है । अर्थात् प्रात -साय दोनों समय प्रतिक्रमण करने का विधान है, जबकि मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरो के युग में ऐसा नही है । उनके समय मे तो दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता है । वर्तमान मे अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन चल रहा है और इसमें प्रात -साय नित्य प्रतिक्रमण का विधान है ।

यहाँ प्रश्न पैदा हो जाता है कि जब प्रात साय दोनो समय प्रतिक्रमण का विधान है तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक एव सावत्सरिक प्रतिक्रमण का विशेष विधान क्यों किया गया ?

इसका एक मुख्य कारण है—आगम मे बताया गया है कि साधु को प्रमादवश यदि कोई दोष लग जाय, परस्पर कोई कलह हो जाय, तो तुरन्त उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए और खमत खामणा करके कलह की शांति कर देनी चाहिए। किंतु मनुष्य स्वभाव विचित्र है, कभी-कभी भूल करके तुरन्त उसपर पश्चात्ताप नही करता, किन्तु धीरे-धीरे जब मन कुछ विरक्त और शात होता है तब उसे अपनी भूल का भान होता है। अहकार क्रोध आदि का उफान शात होने मे कभी-कभी समय लग जाता है, और कुछ समय के बाद मनुष्य अपने अपकृत्य पर पश्चात्ताप करने लगता है। कई बार देखा जाता है कि भूल करते समय तो मनुष्य अहकार मे गदराया रहता है अथवा क्रोध से भरा रहता है, तब उसे भूल-भूल ही प्रतीत नही होती, किन्तु धीरे-धीरे जैसे वह नशा उतरता है, वैसे वह अपनी भूल को महसूस करने लगता है। अपने प्रमादाचरण पर उसे स्वय ही ग्लानि और पश्चात्ताप होने लगता है। इसमे समय का व्यवधान अधिकतर मनुष्य की सरलता पर निर्भर करता है। कोई मनुष्य सुबह की भूल शाम को ही समझ लेता है, कोई दस-पन्द्रह दिन बाद में उस पर विचार करता है। कोई दो-चार महीने भी निकाल देता है और कोई-कोई वर्ष भर की अपनी भूल पर ध्यान नही देता। मानव स्वभाव की इस विचित्रता के कारण ही मानसज्ञानी भगवान ने कहा है 'यदि सुबह की भूल शाम तक ध्यान मे न आये तो पाक्षिक प्रतिक्रमण तक तो उसकी आलोचना कर लेनी चाहिए। पक्खी के दिन पन्द्रह दिनो मे हुयी अपनी समस्त भूलो का लेखा-जोखा मिलाकर उनकी आलोचना कर आत्मा को शुद्ध और उपशात कर लेना चाहिए। यदि किसी का हृदय इतना कठोर है कि पन्द्रह दिन मे भी हृदय नम्र एव सरल नही हुआ तो उस साधक के लिए चार मास का समय दिया गया है कि वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय तो अपना पुराना खाता बराबर कर ही लें।

कभी-कभी मनुष्य अधिक कठोर हो जाता है, चार मास के काल मे भी उसका हृदय द्रवित न हो, आत्म-निरीक्षण करने की भावना न जगे तो उसे भी एक अवसर और दिया जाता है कि वह सवत्सरी के दिन तो पुराने शल्य काटे निकाल लें, दोषो की शुद्धि करलें, कलह की उपशाति करलें और इस परम पवित्र दिन पर तो वह सर्वथा बालक की भाँति सरल और शुद्ध हृदय होकर सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करलें, चोरासी लाख जीव योनि के साथ सरल हृदय मे खमत खामणा करलें। कोई महाव्रती, अणुव्रती अथवा सम्यक्त्वी श्रावक इस दिन भी अपने हृदय को सरल नही करता है तो वह न महाव्रती रह सकता है, न अणुव्रती और न सम्यक्त्वी ही। वह क्रोध और अहकार की उग्रता के कारण अपने सम्यक्त्व रत्न से हाथ धो बैठता है।

दशाश्रुतस्कंध की २६वीं समाचारी मे बताया है कि जो श्रमण पर्युषण मे भी पूर्व वर्ष मे हुए कलह को उपशात नहीं करता है, अपने अधिकरण— कलह की विशुद्धि नहीं करता है तो उसको श्रमण संघ मे निष्कासित कर देना कल्पता है—अर्थात् ऐसा उग्र अहंकारी और क्रोधी व्यक्ति श्रमणत्व का अधिकारी नहीं रह सकता, श्रमणत्व ही

गया, सावत्सरिक क्षमापना न किया जाय तो दुर्लभ सम्यक्त्व भी रह पाना असभव है।

कषाय की उग्रता का परिमाण बारह मास तक का माना गया है कि इस काल तक मे कषायो को किसी भी प्रकार उपशात कर लेना चाहिए। बारह मास की सीमा से उपरात रहने वाला कषाय—अनन्तानुबधी कषाय की गणना मे आ जाता है, और अनन्तानुबधी कषाय वाला सम्यक्त्वी नही रह सकता।

इसलिए सावत्सरिक प्रतिक्रमण-प्रत्येक सम्यक्त्वी को एक चुनौती है कि तुम आज के दिन अपने पुराने खाते बराबर कर लो, कषायो को उपशात कर लो, हृदय को नम्र और सरल बनाकर उपशमभाव की शीतल धारा मे स्नान कर लो, अन्यथा तुम सम्यक्त्वी कहलाने के अधिकारी भी नही रहोगे।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कब ?

एक प्रश्न यहाँ खड़ा होता है कि सवत्सरी का क्या अर्थ है ? वह कब मनाई जाती है और क्यो ?

सामान्यत सवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष के अन्तिम दिन किया जाने वाला कृत्य सावत्सरिक कहलाता है। वैसे जैन परम्परा के अनुसार आषाढ़ी पूर्णिमा को सवत्सर समाप्त होता है, और श्रावणी प्रतिपदा (श्रावण वदी १) को नया सवत्सर प्रारम्भ होता है। इसलिए कुछ व्यक्ति यह तर्क उठाते हैं कि सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आषाढ़ी पूर्णिमा को ही करना चाहिए। वही वर्ष का अन्तिम दिन है। भाद्रपद शुक्ला पचमी को जैन ज्योतिष की दृष्टि से तथा अन्य किसी भी दृष्टि से वर्ष का न अन्तिम दिन है और न प्रारम्भिक दिन।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि आषाढी पूर्णिमा सवत्सर का अन्तिम दिन माना गया है किन्तु शास्त्र मे जो पर्युषण का विधान है वह आषाढी पूर्णिमा से पचास दिन के भीतर किसी पर्व दिवस मे मनाने का है, निर्दोष स्थान आदि की प्राप्ति होने पर पर्युषण मनालें, अगर किसी भी दशा मे स्थान आदि की प्राप्ति न हो तो भी आषाढी पूनम से एक मास और बीस दिन बीत जाने पर तो अवश्य ही मनाना होता है। इस दृष्टि से देखें तो आषाढी पूनम से पचासवाँ दिन एक निश्चित दिन है, इस दिन पर्युषण निश्चित रूप से करना ही होता है, इस दिन का उल्लघन करने पर प्रायश्चित्त आता है, अर्थात् अन्य सभी विकल्प के दिनो को पार कर लेने के बाद पचासवाँ दिन निश्चित दिन है, अत. इस दिन का सबसे अधिक महत्त्व है। यह सीमा का वह अन्तिम पत्थर है जिसका उल्लघन नही किया जा सकता। इसलिए इस दिन का महत्त्व अपने आप सबसे अधिक सिद्ध हो जाता है, अत आचार्यो ने इसी दिन को सावत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन स्वीकार कर दूरदर्शिता का परिचय दिया ही है, साथ ही समस्त श्रमण संघ को एकसूत्र मे बाँधे रखने का भी एक सुन्दर मार्ग दिखाया है। बीच के दिन तो अपनी-अपनी सुविधा के दिन हो सकते हैं जिस दिन जहाँ पर जिसको स्थान आदि की सुविधा मिले वह उसी पर्व तिथि (पंचमी-

दशमी-पूर्णिमा) को पर्युपण कर ले, इससे सघ मे बहुरूपता आ जाती है, विभिन्नता आती है, फिर—मु डे-मु डे मतिर्भिन्ना वाली स्थिति आ सकती है, इसलिए भाद्रपद शुक्ला पचमी अर्थात् आपाढी पूनम से पचासवें दिन पर्युपण करने—अर्थात् सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने का निश्चित विधान है, जो सघ की एकता और श्रमण सघ की अनुशासन-बद्धता के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संवत्सरी का सांस्कृतिक महत्व

इसी के साथ भाद्रपद शुक्ला पचमी का सांस्कृतिक महत्व भी बहुत बडा है। अहिंसा की प्रतिष्ठा का यह पहला दिन है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार[1] उत्सर्पिणी काल का प्रथम आरा दुपम-दुपमा आरा है। इस आरे मे मनुष्य स्वभावत अत्यन्त क्रूर और क्षुद्र स्वभाव के होते हैं। ये वैताढ्य पर्वत मे गगा एव सिन्धु नदियो के पूर्व पश्चिम तट पर ७२ विलो मे रहते है। दिन मे भयकर धूप तपती है। सूर्य से जैसे अगारे बरसाते हैं। कोई भी मनुष्य सूर्य की धूप मे विलो से बाहर निकलने का साहस नही कर पाता। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय जब धरती की उष्णता कम होती है उस समय वे अपने विलो से बाहर निकलकर नदियो एवं क्षुद्र जलाशयो से मच्छ-कच्छ आदि पकडकर रेत मे गाड देते हैं। शाम के गडे हुए मच्छ आदि को सुबह निकालकर खाते हैं सुबह के शाम को। वे व्रत, नियम, त्याग, धर्म आदि से हीन सक्लिष्ट परिणाम वाले मांसाहारी होते हैं।

यह पहला आरा २१ हजार वर्ष का होता है। इसके बाद जब दुपमा नाम का दूसरा आरा प्रारम्भ होता है तो धरती के वर्ण-गंध-रस आदि मे कुछ परिवर्तन प्रारम्भ होता है।

सर्वप्रथम पुष्कर सवर्तक नामक मेघ की सात दिन तक लगातार वृष्टि होती है। इसके बाद क्षीर मेघ की सात दिन तक वृष्टि होती है। फिर घृतमेघ, अमृतमेघ और फिर रसमेघ की वृष्टि होती है। इस वृष्टि से पृथ्वी पर वनस्पति अकुरित होती है, पुष्प-फल आदि की वृद्धि होती है। दूसरे और चौथे मेघ के बाद मे सात-सात दिन का उघाड होता है, इस प्रकार ५ मेघ और १४ दिन का उघाड यो कुल ४९ दिन के बाद पृथ्वी वनस्पतियो से हरी-भरी और रमणीय हो जाती है। उष्णता मद शात हो जाती है, शीतलता मधुरता और सरसता से वातावरण अत्यन्त मन भावना हो जाता है। विलो में रहने वाले मनुष्य जब विल से निकलकर बाहर आते हैं तो यह अद्भुत सरस सुन्दर दृश्य देखकर हर्ष मे झूम उठते है। पृथ्वी पर फल-फूल उगे देखकर वे उन्हे खाने लग जाते हैं और सब मिलकर फिर यह निश्चय करते है, कि अब हम[2]

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सूत्र ३९-४०

२ देवाणुप्पिया! अम्हं केई अज्जप्पभिई असुभ कुणिम आहार आहरिस्सति सेण अणेगाहि छायाहि वज्जणिज्जे त्ति। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ११८

मांसाहार नहीं करेंगे, वनस्पति फल फूल आदि खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करेंगे। यहाँ तक कि मांसाहार करने वाले प्राणी की छाया में भी नहीं बैठेंगे।

इस प्रकार आषाढ़ी पूनम से ४९ दिन पूर्ण होने पर पचासवें दिन इस धरती के मांसाहारी प्राणियों के हृदय में दया एवं करुणा के संस्कार जाग्रत होते हैं, उनका हृदय बदलता है और वे सामूहिक रूप से प्रतिज्ञाबद्ध होकर शाकाहारी बनते हैं, अहिंसा का अमृत-स्पर्श प्राप्त कर जीवन को धन्य बनाने की दिशा में पहला कदम बढ़ाते हैं। मांसाहारी क्रूर मानव का यह प्रथम चरण, अहिंसा के मंगल पथ पर बढ़ता है—भाद्रपद शुक्ला पंचमी को यह मानव जाति का, इस कालचक्र का शाश्वत नियम है, प्रत्येक युग की आदि (उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ) में मनुष्य इसी प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं।

जैन आगमों के उक्त वर्णन के अनुसार अब आप कल्पना कर सकते हैं कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी का अहिंसा, दया एवं करुणा की दृष्टि से कितना बड़ा महत्त्व है। मानव संस्कृति का यह प्रथम चरणन्यास इसी दिन होता है। अतः इस सांस्कृतिक एवं शाश्वत गौरव को ध्यान में रखकर भी हम यह कह सकते हैं कि पर्युषण की आराधना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण एवं क्षमा तथा तपश्चरण की दृष्टि से आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद का पचासवाँ दिन अत्यन्त महत्त्व का, ऐतिहासिक और धार्मिक गौरव का दिन है। इसी हेतु से भाद्रपद शुक्ला पंचमी को जैन परम्परा में इतना महत्त्व मिला है। संवत्सरी के पीछे यही अहिंसा की महान प्रतिष्ठा का इतिहास छिपा है। और इसी कारण सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आषाढ़ी पूनम, अथवा बीच के किसी दिन न करके भाद्रपद शुक्ला पंचमी अर्थात् आषाढ़ी पूनम से पचासवें दिन करने का विधान है। इसके पीछे आगम एवं परम्परा के अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं, जिनकी चर्चा हम यहाँ कर चुके हैं।

७

पर्युषण में करणीय कृत्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले दिनो 'पर्युषण' के विभिन्न पहलुओ पर विचार किया गया। उस चर्चा से ऐसा सिद्ध होता है कि यह एक महान आध्यात्मिक पर्व है। 'पर्युषण' शब्द से अनेक अर्थ और भाव व्यक्त होते हैं जो मैंने आपको बताये। शब्द शास्त्र का नियम है कि एक शब्द—व्युत्पत्ति भेद से, व्याख्या भेद से अनेक अर्थ का वाचक बन जाता है। पर्युषण शब्द के विषय मे भी ऐसा ही हुआ है। इसके विभिन्न शब्द विभिन्न भावों के वाचक हो गये हैं। जैसे—पर्युषण—परिवसन एक स्थान पर स्थिर रहना। इससे पर्युषण का अर्थ वर्षावास करना या वर्षाकाल मे एक स्थान पर रहना सिद्ध होता है।

अब पर्युषण—का दूसरा अर्थ करें—पर्युपशमन। परि-उपशमन अर्थात् सब प्रकार से शान्ति करना। यह शब्द कषाय आदि की उपशान्ति का द्योतक है। इसी तरह एक अर्थ है परि-वसन, निकट रहना। अर्थात् आत्म-भाव के निकट रहना अथवा आत्मा मे रमण करना।

वर्षावास का अर्थ—पर्युषण का सिर्फ कालवाची अर्थ है, जबकि कषाय उपशांति और आत्म-रमण यह उसके भाववाची अर्थ हैं। हमें शब्दो के बाह्य कलेवर को नही पकड़कर उसकी आत्मा को पकडना है। शब्द के भीतर छिपे हुए गहन भाव को ग्रहण करना है। तभी हम पर्युषण की सच्ची व्याख्या समझ सकेंगे।

एक दिन या आठ दिन ?

एक मान्यता है कि प्राचीन समय मे काल की दृष्टि से पर्युषण सिर्फ एक दिन का ही होता था। आषाढी पूनम के पचासवें दिन पर्युषण मनाया जाता था। किन्तु इसकी मान्यता के अनुसार—प्राचीन ग्रन्थों एव आगमो मे ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि पर्युषण एक अठाई महोत्सव के रूप मे भी मनाया जाता था। तीन चातुर्मासिक पूनम और एक पर्युषण इन चार पर्वो पर देवतागण नन्दीश्वर द्वीप मे जाकर अष्टान्हिक महोत्सव अर्थात् आठ दिन तक उत्सव मनाया करते हैं।[1]

---

1 जीवाभिगम सूत्र—नंदीश्वर द्वीप वर्णन,

इस प्राचीन उल्लेख से यह बात जानी जाती है कि अष्टाह्निक महोत्सव की परम्परा बहुत ही प्राचीन है, एक मुख्य दिन से पहले सात दिन और भी इसी प्रकार का उत्सव, आनन्द मनाकर उस मुख्य दिन को एक विशिष्ट पर्व का रूप दिया जाता था। क्योंकि एक दिन का समय बहुत कम होता है, मनुष्य उत्सव प्रिय है, वह एक दिन के सहारे अपने उल्लास को और अधिक विस्तार देकर उसे व्यापक बनाने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। और विविध प्रकार के नृत्य-गायन आदि का आयोजन कर उस त्योहार को रंगारंग बना देता है। लौकिक त्योहारों की भांति आध्यात्मिक पर्वों को भी यह एक दिन की जगह आठ दिन तक आध्यात्मिक कृत्य धर्म-साधना आदि के रूप में मनाने लगा हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उसकी उत्सव प्रिय वृत्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में कुंठित कैसे हो सकती है? इस कारण यह प्राचीन उल्लेख प्रामाणिक ही लगता है कि यह पर्युषण को भी अष्टाह्निक महोत्सव के रूप में मनाता रहा हो! एक दिन के पर्युषण पर्व को विभिन्न तप-ध्यान-स्वाध्याय आदि के आयोजनों द्वारा वह आठ दिन तक आत्म-रमण के कृत्य में लग गया हो, यह सहज सम्भव है।

दूसरी बात, पर्युषण में कल्पसूत्र (कल्पदशा-दशाश्रुतस्कंध की आठवीं दशा) पढ़ने का भी उल्लेख आता है। उसमें साधु की समाचारी-आचार आदि का विधि-विधान है, यह पढ़ने से श्रमण को अपने सम्पूर्ण आचार-नियमों के ज्ञान का पुनरावर्तन हो जाता है और वह विशेष सजगता तथा सावधानीपूर्वक आचरण करने लगता है। यह कल्पसूत्र भी एक दिन में पढ़ा जाये—यह कम सम्भव है। क्योंकि इतना विस्तृत विषय एक ही दिन में कोई कैसे पढ़ेगा। अतः हो सकता है स्वाध्याय की साधना को प्रोत्साहन देने के लिए पर्युषण में सात दिन पूर्व ही यह क्रम प्रारम्भ कर दिया जाता हो, जिसमें श्रमण वर्ग अपने आचार कल्प का अध्ययन खूब गम्भीरतापूर्वक करले, और साथ ही अपने आराध्य देवों एवं महापुरुषों का पवित्र जीवन-चरित्र भी पढ़े और उससे तप, ध्यान एवं आत्म-जागरण की सघन प्रेरणा प्राप्त करे। इस दृष्टि से भी पर्युषण आठ दिन मनाये जाने की उपयुक्तता लगती है।

वैसे आठ की संख्या जैन साहित्य में मांगलिक मानी गई है। प्राचीन काल में आठ दिन के उत्सव होते थे तथा किसी भी शुभ कार्य में आठ का योग होना अच्छा मानते थे। मंगल आठ माने गये हैं। सिद्ध भगवान के भी आठ गुण बताये हैं। साधु की प्रवचन माता आठ हैं। संयम के भी आठ भेद बताये गये हैं। योग के आठ अंग हैं। आत्मा के रुचक-प्रदेश भी आठ हैं। और कर्म भी आठ हैं। कहावत है—'आठ के ठाठ' इस प्रकार आठ की गणना बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है।

पर्युषण में आठ प्रवचन माता की आराधना के लिए तथा आठ कर्मों को क्षीण करने के लिए, एक-एक दिन मान लिया गया हो, तो क्या आश्चर्य है? एक दिन ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करने के लिए ज्ञान की आराधना, ज्ञानी का बहुमान आदि करें, दूसरे दिन दर्शनावरण कर्म को क्षीण करने हेतु, दर्शन विशुद्धि के उपाय करें। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हेतु—निर्वेद, वीतरागता और उदासीन वृत्ति का अभ्यास

करे, अन्तराय कर्म को उपशात करने के लिए दान देवे, तपस्या करके, सयम मे पराक्रम करे। इस प्रकार प्रत्येक दिन एक विशेष प्रकार का आचरण करके तत्सम्बन्धी कर्म-दलिको को उपशात करें, क्षीण करें—यह पर्युषण के आठ दिन का अष्टान्हिक कार्यक्रम हो सकता है।

मतलब यह है कि पर्युषण काल की दृष्टि से भले ही एक दिन का मान लिया जाय, फिर भी दीर्घदृष्टि आचार्यों ने इन दिनो मे आत्म-जागरण करने के लिए पर्युषण को अष्टान्हिक पर्व का रूप दिया हो और आठ दिन सतत पर्युषण पर्व की आराधना का उपदेश किया यह विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आठ दिन के करणीय कृत्य : १ केश लोच

जैसा पहले बताया गया है—पर्युषण पर्व के आठ दिनो मे पाँच करणीय कृत्यो का विधान है—सावत्सरिक प्रतिक्रमण, केशलोच, यथाशक्ति तपश्चरण, आलोचना और क्षमापना।

केशलोच करने का कारण यह है कि वर्षाकाल मे वर्षा अधिक होने से पानी सिर मे गिरता रहता है, केश गीले रहते हैं उससे अप्काय की विराधना होती है और सिर गीला रहने से जू-लीग आदि की उत्पत्ति भी हो सकती है, दाद-खाज-खुजली आदि भी हो सकती है, इन सभी सभावित दोषो से बचने के लिए यह कहा गया है कि न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी, जब सिर मे केश ही न रहेंगे, तो ये दोष उत्पन्न ही नहीं होगे।

केशलोच एक अग्निपरीक्षा भी है। साधु कितना कष्ट-सहिष्णु है, कितना धैर्यवान है और शरीर के कष्ट मे भी वह कितना आत्मस्थ रह सकता है इसकी कडी कसौटी है—लोच! इसीलिए राजकुमार मृगापुत्र जब दीक्षित होता है तो उसकी माता कहती है—केसलोओ य दारुणो—केशलोच बडा ही दारुण कष्ट है, बडी भयकर पीडा है। एक-एक बाल जब खीचा जाता है, तो जैसे बिजली-सी चमक जाती है। इस कष्ट को सहन करना सचमुच बडी धीरता और सहिष्णुता का काम है। यह केशलोच पर्युषण पर किया जाता है अर्थात् सावत्सरिक प्रतिक्रमण से पूर्व गो-लोम (गाय के रोम) प्रमाण बाल से बडे बाल नही रखे जा सकते। शास्त्र मे कहा है—

वासावास पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण य निग्गथीण वा पर पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसं त रयणि उवाइणा वित्तए।[1]

—वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियां पर्युषणा की अन्तिम रात्रि से पूर्व ही केशलुचन अवश्य कर लेवें। क्योंकि पर्युषणा के बाद (मस्तक मूँछ, और दाढी पर) गाय के रोम जितने केश भी रखना नहीं कल्पता है।

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध (मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' सम्पादित) सूत्र ७०, पृष्ठ १२८

सो, यह केशलोच पर्युषण का आवश्यक कृत्य माना गया है, हाँ इसका विधान सिर्फ श्रमण वर्ग के लिए ही है।

२. सावत्सरिक प्रतिक्रमण

सावत्सरिक प्रतिक्रमण के विषय मे पहले विचार किया ही जा चुका है। यह तो वर्ष भर का आत्म-स्नान है। श्रमण हो या श्रावक, शुद्धि प्रत्येक के लिए आवश्यक है। इसलिए सभी को सवत्सरी का प्रतिक्रमण करके वर्ष भर मे हुए प्रमाद, अतिचार अनाचार आदि की सरलतापूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

मिच्छामि दुक्कड सच्चे मन से हो

प्रतिक्रमण मे बार-बार अपने प्रमाद-आचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' का उच्चारण कर पश्चात्ताप किया जाता है। साधक सच्चे दिल से कहता है—मैंने प्रमाद वश जो आचरण कर लिया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

कोई पूछ सकता है कि क्या ऐसा कहने से उसका पाप धुल जाता है? पाप करके फिर मुँह से कह दिया—मेरा पाप मिथ्या हो तो पाप धुल जाय तब तो पाप-प्रक्षालन का यह बहुत ही सरल तरीका हो गया! इससे तो कोई भी अपने पाप धो सकता है?

इसके उत्तर मे समाधान है कि—पाप करने के अनेक कारणो को दो भागो मे बाँटा गया है बाह्य कारण और आन्तरिक कारण। बाह्यकारण परिस्थिति है, गरीबी, बीमारी, मजबूरी आदि। आन्तरिक कारण उसकी अज्ञान, भय, लोभ एव प्रमाद की वृत्तियाँ है। मूलत: आन्तरिक वृत्ति दूषित होने पर ही मनुष्य पाप करता है। अगर भावना निर्दोष और शुद्ध रही तो पाप प्रवृत्ति नही होती। जब मनुष्य भय, लोभ, अज्ञान आदि के वश होकर पाप कर लेता है, किन्तु किसी कारण से, गुरु के उपदेश से या स्वय की विवेक जागरणा से उसे यह भान होता है कि हाय! मैंने यह पाप कर डाला तो सहसा उसके हृदय मे पश्चात्ताप की लहरें उठती है और वह हृदय से पुकार उठता है—मैंने जो भूल की, पाप किया, वह मेरा मिथ्या हो, मैं उसकी निन्दा करता हूँ, उसके प्रति घृणा प्रकट करता हूँ और भविष्य मे पुन ऐसा कृत्य नही करूँगा।" इस पवित्र भावना से, आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की भावना से उसके पूर्वकृत पाप की आसक्ति कम हो जाती है, आसक्ति से ही कर्म बध होता है, पापासक्ति कम होने से कर्म बन्धन भी ढीला हो जाता है और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा हो जाती है, शास्त्र की भाषा मे जिसे हम निर्जरा कहते है वह पाप का प्रक्षालन है, पाप विशुद्धि है। 'मिच्छामि दुक्कड' मे यह पश्चात्ताप की भावना है, पाप के प्रति निन्दा, घृणा का भाव है और भविष्य मे पुन पाप न करने का कठोर सकल्प है। 'मिच्छामि दुक्कड' बोलते समय हमारी आत्मा म यह प्रकम्पन होना ही चाहिए, भावना मे घृणा और पश्चात्ताप की तरगे तरगित होनी ही चाहिए अगर यह भावना जागृत नही होती है तो केवल वाचिक 'मिच्छामि दुक्कड' से कोई आत्म-शुद्धि होने

वाली नही है। शाब्दिक 'मिच्छामि दुक्कड' को इसीलिए तो हमारे यहाँ कुम्हार वाला मिच्छामि दुक्कड कहा गया है। टीका ग्रन्थ मे एक उदाहरण आता है।

एक आचार्य अपने शिष्यो के साथ किसी नगर मे पधारे। नगर के बाहर उद्यान मे आचार्य श्री ठहरे। उनके सघ मे एक नव दीक्षित बालक मुनि भी था। वह कुछ चचल प्रकृतिका था। उद्यान के एक ओर कोई कुम्हार अपने घडे आदि बर्तन बनाकर सुखा रहा था। बालक मुनि, बाल क्रीडा करता हुआ उधर आया, एक ककर निशाना लगाकर उसने कुम्हार के घडो पर मारा। घडे फूट गये। कुम्हार ने देखा तो बाल मुनि की ओर घूर कर देखा, मुनि ने झट से कहा—'मिच्छामि दुक्कड।'

कुम्हार ने बात आई-गई कर दी और अपने काम मे लग गया। थोडी देर बाद फिर बाल मुनि ने ककर फेंका और उसके बर्तन काने कर डाले। कुम्हार को फिर गुस्सा आया, घूर कर बोला—क्या बात है मुनि जी ! मुनि ने झट से कह दिया—'मिच्छामि दुक्कड।' यो बार-बार ककर मार कर बर्तन फोडता जाता और कहने पर 'मिच्छामि दुक्कड' बोलता जाता। कुम्हार को गुस्सा आ गया। वह उठा, मुनि का कान पकड कर ऐंठा। बालक मुनि चिल्लाने लगा, अरे क्या करता है ? साधु का कान पकडता है ? कुम्हार बोला—मिच्छामि दुक्कड ! साधु बोला—यह क्या ? मेरा कान खींचता जा रहा है और 'मिच्छामि दुक्कड' कहता जा रहा है ? कुम्हार बोला—जैसा तुम बर्तन फोडते गये और मिच्छामि दुक्कड बोलते गये वैसा ही मैंने किया। जैसा तुम्हारा मिच्छामिदुक्कड वैसा ही मेरा 'मिच्छामिदुक्कड।'

तो, इस कुम्हार वाले 'मिच्छामि दुक्कड' से कोई लाभ नहीं होगा। सच्चे मन से पाप के प्रति ग्लानि और पश्चात्ताप होना चाहिए। पर्युषण के पवित्र दिनो मे पाप की शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्नशील होकर साधक वर्ष भर के प्रमादाचरण के प्रति पश्चात्ताप करता हुआ 'मिच्छामि दुक्कड' लेता है, यही सावत्सरिक प्रतिक्रमण का रूप है।

३ आलोचना

प्रतिक्रमण भी यद्यपि आत्मालोचना ही है, किन्तु आलोचना (आलोयणा) को अलग बताने का कारण यह है कि प्रतिक्रमण तो साधक प्रतिदिन भी करता है, और वह आत्म-साक्षि से ही करता है, किन्तु आलोचना खासतौर पर गुरुजनो के समक्ष की जाती है।

स्थानाग सूत्र[1] मे प्रायश्चित्त के चार भेद बताये हैं। १ प्रतिसेवना प्रायश्चित्त २ सयोजना प्रायश्चित, ३ आरोपणा प्रायश्चित्त, ४. परिकु चना प्रायश्चित्त।

नहीं करने योग्य कार्य करना प्रतिसेवना है। इसकी शुद्धि के लिए आलोचना प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं।

---

१. स्थानाग ४।१। सूत्र २६३ तथा दशवै० १।१ हरिभद्रीय टीका

एक प्रकार के ही कई दोषों का एक साथ मिल जाना संयोजना है।

एक बार एक दोष सेवन किया, उसकी शुद्धि के लिए तप आदि का प्रायश्चित्त कर लिया। दुबारा उस दोष का सेवन करने पर उससे अधिक तप का प्रायश्चित्त देकर उस दोष की विशुद्धि करना यों तप रूप में छ मास तक के तप का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। इसे आरोपणा प्रायश्चित्त कहते हैं।

अपराध को छिपाना परिकुंचना है। उसका प्रायश्चित्त दुगुना होता है। एक तो दोष सेवन का और दूसरा कपट का। उस प्रायश्चित्त को परिकुंचना प्रायश्चित्त कहते हैं।[1]

इसमें जो पहला प्रतिसेवना प्रायश्चित्त है, उसके दस भेद हैं—उसमें पहला भेद है आलोचना है और दूसरा भेद है, प्रतिक्रमण।

जो दोष गुरुजनों के समक्ष सरलतापूर्वक स्पष्ट वचनों से प्रकट कर लिया जाता है वह आलोचना है। जो दोष आलोचना करने मात्र से दूर होकर आत्म-विशुद्धि हो जाती है, इसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं।

जिन दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण का विधान है, मिच्छामि दुक्कडं करने से जिनकी विशुद्धि हो जाती है—वह प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है।

पर्युषण में आलोचना और प्रतिक्रमण इन दो करणीय कृत्यों का विशेष विधान है, इसलिए हम इन्हीं पर यहाँ विचार कर रहे हैं। आलोचना का सीधा-सा अर्थ है—सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करना। आचार्य अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका में कहा है—

आ—अभिविधिना सकलदोषाणा

लोचना—गुरुपुरतः प्रकाशना=आलोचना[2]

विधिपूर्वक—अर्थात् सरल भाव से, विनयपूर्वक गुरुजनों के समक्ष सभी दोषों को प्रकट कर देना—आलोचना है।

आलोचना करने के लिए आत्मा की सरलता और विनम्रता बहुत आवश्यक है। और जब आत्मा सरल होगी तभी शुद्धि होगी, 'सोही उज्जुयभूयस्स'—ऋजुभूत सरल आत्मा की ही शुद्धि होती है। अगर मन में कपट रहा, अहंकार रहा तो पहली बात तो वह आलोचना कर ही नहीं पाता, यदि लोक दिखावे के लिए शब्दों से आलोचना करता भी है, सिर्फ मुँह से अपनी भूल का उच्चारण कर देता है, पर उस उच्चारण के साथ यदि उसका हृदय नहीं बोलता है, हृदय में सच्चा पश्चात्ताप नहीं होता है तो

१ प्रायश्चित्त के अन्य भेदों के विस्तार के लिए देखें—भगवती सूत्र, शतक २५।उ०।७ तथा स्थानांग १०।७३।

२ भगवती सूत्र २५।७ की टीका।

वह कपट आलोचना और भी दुखदायी है। उसमे पाप-सेवन का एक दोष तो हुआ ही दूसरा कपट का और दोष लग गया तो यह तो वही बात हुई—

वो मण पाप आगे हुतो सो मण लायो ओर।

तो आलोचना करने के लिए मन को सरल एव विनम्र बनाना बहुत ही आवश्यक है। आलोचना का लाभ ही यही है कि—

आलोयणाए ण माया-नियाण-मिच्छादसण सल्लाण मोक्खमग्गविग्घाण अणन्त ससारवद्धणाण उद्धरण करेइ। उज्जुभाव च जणयइ।[1]

—आलोचना करने से जीव माया-निदान एव मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यो (काटो) को आत्मा से निकाल फेंकता है। ये शल्य मोक्ष मार्ग के विघ्न है और अनन्त ससार बढ़ाने के कारण हैं। इसलिए इनको निकालना बहुत आवश्यक है। आलोचना करने वाला सरल आत्मा इनको निकालकर नि शल्य हो जाता है।

स्थानाग सूत्र[2] मे कहा है कि जो व्यक्ति अपने दोषो की आलोचना कर लेता है, वह मर कर विशाल समृद्धि वाला, लम्बी आयु तथा उच्चजाति का देवता बनता है। उसका दर्शन, उसकी वाणी सबको प्रिय लगती है। इसके विपरीत बिना आलोचना किये मरने वाला दुर्गति मे जाता है। अगर देव योनि मे भी जाता है तो निम्न जातियो मे। वहाँ कोई उसका सम्मान नही करता, जब वह बोलता है तो चार-पाँच देवता उसे टोकते हुए कहते हैं—बस, रहने दीजिए। अधिक मत बोलिए।"

मतलब यह कि बिना आलोचना किये मरने वाला परलोक मे निम्न गति मे जाता है, और सबको अप्रिय लगता है।

तो पर्युषण मे आलोचना का उपदेश विशेष रूप से दिया गया है कि जैसे वर्षा ऋतु मे मिट्टी नरम और मुलायम हो जाती है, उसमे बीज सरलता से उग आते हैं, उसी प्रकार पर्युषण मे आलोचना करने से मन सरल और मृदुल नम्र हो जाता है। हृदय निशल्य होकर शान्ति और समाधि का अनुभव करता है। आँख मे पडा कंकर, पैर मे लगा काँटा जितनी तकलीफ देता है उससे भी सौ गुनी हजार गुनी पीडा देता है मन का काटा, मन का शल्य। इसलिए मन की शान्ति और समाधि पाने के लिए पर्युषण मे आलोचना करनी अनिवार्य है।

४ तपश्चरण

पर्युषण का चौथा कृत्य है—तपश्चरण। पर्युषण आता है तो छोटे-छोटे बच्चो मे भी धार्मिक उल्लास जगमगाने लगता है। अन्य त्योहारो मे जहाँ खाने-पीने की तैयारियाँ होती हैं, विविध मिष्टान्न-पकवान बनाये जाते है, वहाँ पर्युषण आते ही

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९, सूत्र २

२ स्थानाग सूत्र, स्थान ८, सूत्र ५९७।

सहज रूप से तप करने का मन होता है। उपवास, एकासना आयबिल, बेला, तेला आदि तपस्याओं की होड़-सी लग जाती है। यह इस पर्व की विशेषता ही है कि छोटे-छोटे बालकों और वृद्धों में भी त्याग-वैराग्य की भावना अपने आप जागृत होती है।

शास्त्र में भी बताया है पर्युषण के अवसर पर विशेष प्रकार के तपश्चरण का उद्यम करना चाहिए। कम से कम विगय का त्याग, हरी वनस्पति आदि खाने का त्याग, एकासना आयंबिल, रात्रि भोजन त्याग यह तो प्रत्येक श्रावक को करना ही चाहिए। क्योंकि त्याग से आत्मा में संकल्प बल बढ़ता है, तप से कर्मों को नाश करने की शक्ति जागृत होती है। तप की ज्वाला से कर्मों का घास-फूस जलकर भस्म हो जाता है। और आत्म-तेज प्रदीप्त होता है।

अगर शक्ति हो तो श्रमण एवं श्रावक को उपवास, बेला, तेला से लेकर अठाई तक का तप भी पर्युषण में करना चाहिए। तप में एक बात का ध्यान रहे कि—

> सो हु तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
> जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हायंति॥
>
> —मरणसमाधि १३४

वही तप करना चाहिए जो करने से मन अमंगल न सोचे अर्थात् भूख-प्यास के कारण परिणामों में आर्तध्यान न आये। इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-क्रियाओं में विघ्न न आये।

क्योंकि पर्युषण पर्व के दिनों में सिर्फ तप ही नहीं अन्य धर्म-क्रियाएँ भी विशेष रूप से होती हैं अतः तप अपनी शक्ति के अनुसार ही करने का निर्देश है, ताकि उसी के साथ-साथ ध्यान, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि क्रियाएँ निर्विघ्न रूप में चलती रहें।

तप की विशेष प्रेरणा देने के लिए ही पर्युषण में अंतगड सूत्र का वाचन किया जाता है ताकि श्रोताओं को उन प्राचीन आदर्श पुरुषों के जीवन से नया आत्मबल और तप शक्ति प्राप्त हो।

४ क्षमापना

क्षमापना पर्युषण पर्व का सबसे महत्वपूर्ण कृत्य है। इसका महत्व इतना अधिक है कि पर्युषण एवं संवत्सरी पर्व को ही 'क्षमापर्व' के नाम से पुकारा जाने लगा है। अगर पर्युषण पर क्षमा धर्म की आराधना नहीं की, कषायों की उपशांति नहीं की तो पर्युषण की कोई सार्थकता ही नहीं है। 'क्षमा' का विशेष महत्व होने के कारण इसका वर्णन अलग से किया जा रहा है।

इस प्रकार संक्षेप में पर्युषण पर्व के करणीय कृत्यों पर हमने विचार किया है। इसके अतिरिक्त इन आठ दिनों में प्रत्येक दिन कोई-न-कोई विशेष तप की आराधना करनी चाहिए। कभी मौन, कभी ध्यान, कभी स्वाध्याय, कभी विनयभाव, कभी उपवास और कभी क्रोध आदि का परिहार कर क्षमा-आराधना।

आगम के अनुसार यहाँ मैं आठ बातों का निर्देश करना चाहता हूँ जिनका उपदेश करने को कहा गया है—

भगवान महावीर ने कहा है—

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, सुस्सूमाणेसु वा पवेदए—

सतिं, विरतिं, उवसमं, णिव्वाणं,
सोयं, अज्जवियं, मद्दवियं, लाघवियं।[1]

जो धर्म में तत्पर हैं, (उत्थित है) उनको, जो तत्पर नहीं है, उनको भी, अर्थात् सर्व साधारण को भी इन आठ बातो का उपदेश करना चाहिए—

१ शांति— अहिंसा, अर्थात् प्रत्येक प्राणी शान्ति चाहता है, अत किसी भी प्राणी को न मारे, दया पालन करे, किसी को कष्ट न दे।

२ विरति— भोगो से विरक्ति का उपदेश करें। और व्रतो का पालन करें।

३ उपशम— क्रोध आदि कषायो को शान्त कर क्षमा एव निर्लोभता का अभ्यास बढाएँ।

४. निवृत्ति— जितनी अधिक हो सके निवृत्ति करें, भोगो से दूर हटें, लालसाओ से मुक्त रहें।

५. शौच— मन, वचन, एव काया को पवित्र रखे, राग-द्वेष से मन को कलुषित न होने दें।

६. आर्जव— माया, कपट से दूर रहकर सरल आचरण करें।

७ मार्दव— मान एव दुराग्रह को छोडकर विनम्र बनें।

८ लाघव— परिग्रह का त्याग कर मन का हल्का अर्थात् लघु रखें। आत्मा पर परिग्रह का भार न बढ़ने दें।

उत्तराध्ययन सूत्र (११।४-५) मे भी आठ बातें बताई गई हैं। ये भी जीवन में बड़ी उपयोगी हैं। पर्युषण के आठ दिनो मे प्रत्येक दिन अगर एक-एक गुण का अभ्यास किया जाये तब भी उनसे जीवन मे नया प्रकाश, नई चेतना की स्फुरणा हो सकती है। ये आठ गुण है—

१ शांति— हँसी-मजाक आदि नहीं करना, इसमे वाणी का सयम सधता है।

२ इन्द्रिय-दमन— इन्द्रियों को अपने-अपने विषयो का सयम करने की आदत डालें।

३ स्वदोष-दृष्टि—अपने दोषो और अवगुणो पर ध्यान देवे, किसी का मर्म प्रकाश न करें।

---

१ १ आचारांग ६।५।

४ सदाचार— आचार में कही दोष न लगने दें।
५ ब्रह्मचर्य— अपने शील को शुद्ध रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें।
६ अलोलुपता— रस आदि में लोलुप न हो, जिह्वा का संयम करें।
७. अक्रोध— क्रोध का वर्जन करें। क्षमा रखें। किसी भी कटु से कटु प्रसंग पर क्रोध न करें।
८ सत्याग्रह— सत्य में दृढ रहें। कैसा भी प्रसंग आये तब भी सत्य का त्याग न करें।

संपूर्ण विवेचन का सार यही है कि इस पर्व को आध्यात्मिक जागरण का पर्व मानकर आठ दिन तक यों बितायें जैसे साधक किसी नये संसार में प्रवेश कर गया है, जहाँ न क्रोध है, न लोभ है न माया है, न अहंकार है, न विषय-वासना है। बस, सर्वत्र शान्ति, समता और त्याग-वैराग्य की शीतलता परिव्याप्त हो। यही पर्युषण पर्व की सार्थकता है और यही इन दिनों की विशिष्ट अनुभूति है।

८

क्षमापर्व : क्षमा लो, क्षमा दो

वधुओ !

पर्युषण शब्द के अनेक अर्थो पर हमने विचार किया है। आपके समक्ष जो प्रश्न उठते हैं कि पर्युषण कब, क्यो करना चाहिए, और इस पर्वराज की आराधना कैसे की जाय ? इन सभी प्रश्नो पर सक्षेप मे मैंने अपने विचार शास्त्रीय आधार के साथ प्रस्तुत किये हैं। आठ दिन मे हम आठ कर्मों की उपशाति का प्रयत्न करें। आठ प्रकार के सदाचरणो का, आठ शिक्षाओ का पालन करें। दूसरी वात यह पर्व कृष्णपक्ष से प्रारम्भ होकर शुक्लपक्ष मे समाप्त होता है। इससे एक वात और भी सूचित होती है, वह यह कि पर्युषण अधकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान है। हम अधकार से, अज्ञान, मोह एव विकारो की गहन अधियारी से निकलकर ज्ञान, वीतरागता और स्वभाव के शुक्ल—प्रकाश पक्ष पर, उज्ज्वल मार्ग पर वढे, यह भी इससे सूचित होता है। जव हम कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष की ओर वढेंगे तो अपने आप आत्मा मे हल्कापन, उज्ज्वलता तथा ज्ञान की दिव्य रश्मिया जगमगाने लगेगी।

आत्मा की शाति एव उज्ज्वलता के लिए जो सवसे महत्वपूर्ण वात है, वह है कषायो की उपशाति। कषायो को उपशात किये विना आत्मा शान्ति का अनुभव नही कर सकेगी। कषाय निवृत्ति के लिए पर्युषण पर्व मे 'क्षमा' पर सवसे अधिक वल दिया गया है। सचाई तो यह है कि—

पर्युषण पर्व की 'क्षमा पर्व' के रूप में ही सर्वाधिक प्रसिद्धि है। इसका कारण है, इस पर्व पर सवसे अधिक वल क्षमा पर ही दिया गया है। पज्जूसमणा का अर्थ ही किया गया है—पर्युपशमना। अर्थात् कषाय भावों की सव प्रकार से शान्ति करना। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय भयकर अग्नि हैं—'कसाया अग्गिणो वुत्ता' जिस हृदय मे यह अग्नि धधकती रहती है उस हृदय मे शान्ति की अनुभूति नहीं हो सकती, अग्नि की ज्वालाओ के पास जैसे हरदम अशान्ति और वेचैनी, अकुलाहट और छटपटाहट महसूस होती है, वैसी ही वेचैनी जव हृदय मे कषाय उद्दीप्त होती है तव अनुभव होती है। पर्युषण पर्व शान्ति अनुभव करने का पर्व है, इसलिए सवसे पहले कषायो का उपशमन करने पर वल दिया गया है। शास्त्र में कहा है—

खमियव्वं खमावियव्वं, उवसमियव्वं उवसमावियव्वं[1]

—कलह हो गया हो, किसी को कटुवचन कह दिया हो, किसी के दिल को ठेस पहुंचाई हो तो उसी समय, उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, क्षमा मांगनी चाहिए और जो क्षमा मांगता है, उसे क्षमा देनी चाहिए। स्वयं को शान्त होना चाहिए और जो प्रतिपक्षी सामने खड़ा है उसे भी उपशान्त होने का अवसर देना चाहिए। क्योंकि—

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा॥

जो उपशान्त होता है, उसकी ही धर्माराधना सफल होती है, जो उपशान्त नहीं होता, उसकी सब धर्माराधना व्यर्थ जाती है। राख में डाले हुए घी की भांति अनुपशान्त व्यक्ति का तप भी व्यर्थ हो जाता है। भगवान ने इसीलिए कहा है—

उवसमसारं खु सामण्णं

उपशम भाव—क्षमा, यही साधुता का सार है।

एक बार श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

"बिना क्षमा का जीवन रेगिस्तान है, यह मैंने प्रत्यक्ष जीवन में अनुभव किया है।"

वास्तव में क्षमा से ही जीवन शान्त और आनन्दमय बन सकता है। क्षमा ऐसी अद्भुत वस्तु है जिसे लेने वाला भी सुखी होता है और देने वाला भी। क्षमा लेना और क्षमा देना—दोनों ही मनुष्य की महानता और उच्चता के द्योतक हैं और दोनों ही व्यक्ति जीवन में सुखी होते हैं। क्षमावान व्यक्ति जीवन में कितनी शान्ति और मधुरता अनुभव करता है, इसके विषय में एक राजस्थानी सन्त कवि ने कहा है—

क्रोधी तो कुढ़-कुढ़ मरै, जिम-जिम उठे झाल।
क्षिमावन्त मन में खुशी, जाणे मिसरी घोळी गाल॥

क्रोधी व्यक्ति जैसे-जैसे क्रोध की अग्नि, टीस—जिसे झाल (ज्वाला) कहते हैं, वह भीतर उठती है वैसे-वैसे वह भीतर ही भीतर जलता रहता है। धीरे-धीरे शरीर खाक होता जाता है, उसका खून जल जाता है, अंग-अंग नष्ट हो जाता है। किन्तु जो क्षमावान है, क्षमा देता है और क्षमा लेता है वह सदा ही मन में प्रसन्न रहता है। वह इतनी शान्ति और शीतलता महसूस करता है जैसे मिश्री घोलकर पी ली हो। मिश्री का स्वाद बहुत अच्छा होता है, किन्तु क्षमा का स्वाद तो उससे भी हजार-लाख गुनी अधिक है।

१ दशाश्रुतस्कन्ध, ८, पर्युषण सामाचारी सूत्र ५७

जिस मनुष्य मे क्षमा का गुण नही है, उसके सब गुण बेकार हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—

> नरस्य भूषणं रूप रूपस्याभूषण गुण ।
> गुणस्य भूषणं ज्ञानं ज्ञानस्याभूषणं क्षमा ॥

मनुष्य की शोभा रूप से है, रूप की शोभा गुण से है। यदि रूप है और गुण नही है तो—रूप रूडो गुण बायरो रोहीडा रो फूल—वाली बात है। तो रूप की विशेषता गुण से है। गुण की शोभा ज्ञान से है। और ज्ञान की शोभा क्षमा से है। मनुष्य मे रूप है, गुण है, ज्ञान है, मगर क्षमा नही है तो बिना नमक का भोजन है। इसलिए क्षमा जीवन मे सबसे बडा गुण है या सब गुणो का भूषण है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि क्षमा (खति) से क्या लाभ होता है ? तो भगवान ने बताया—

> खतिए णं जीवे परिसहं जिणइ

—क्षमा से प्राणी परीषह को जीत लेता है।

इसका रहस्य यह है कि क्षमा करने की वृत्ति से मनुष्य को सहनशीलता आती है, सहिष्णुता आती है, धीरता और गम्भीरता आती है। जीवन मे भी कष्ट आते हैं, विपत्तियाँ आती हैं, उनसे लडने के लिए, सकटो पर विजय पाने के लिए मनुष्य को सहिष्णुता और धीरता की सबसे बडी जरूरत है। सहिष्णु और धीर व्यक्ति ही जीवन मे सफल हो सकता है, ससार मे प्रतिष्ठा और इज्जत, यश और कीर्ति प्राप्त कर सकता है।

आप जानते हैं—देवताओ की प्रतिमा किस पत्थर की बनती है ? जो कच्चा पत्थर होता है उसकी या पक्के पत्थर की ? जिस पत्थर पर हथौडी छैनी चली और चूर-चूर। वह पत्थर कभी देव प्रतिमा के रूप मे प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। जो पत्थर हथौडे की चोटें खा सकता है, छैनी से तराशे जाने पर भी बिखरता नहीं, वही पत्थर देव प्रतिमा बन सकता है, और लाखो-करोडों मनुष्यो के सिर अपने चरणो में झुकवा सकता है।

क्षमा-सहिष्णुता से यही गुण जीवन मे आता है। मनुष्य मे सहन करने की वृत्ति जगती है। तितिक्षा और धीरता का गुण प्रकट होता है। इसलिए भगवान ने कहा है—क्षमावृत्ति से मनुष्य सब सकटो पर विजय प्राप्त कर जीवन-सग्राम मे विजेता बन सकता है। इस प्रकार क्षमा से लौकिक एव पारलौकिक दोनो ही जीवन सफल हो जाते हैं।

मैत्री व एकत्वभाव—क्षमा का जनक

क्रोध पर विजय प्राप्त करने से 'क्षमा वृत्ति' का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए भगवान ने कहा है—

> कोहविजए णं जीवे खंति जणयइ ।

उसके भीतर व्यक्त चेतना मे ही नही, किन्तु अव्यक्त चेतना में भी एक प्रकार की शान्ति, शीतलता और कृतकृत्यता की रसधारा सी प्रवाहित होने लगती है। वह हृदय को अत्यन्त हल्का और प्रसन्न महसूस करता है।

आपने महासती मृगावती एव चन्दनबाला का प्रसग सुना होगा, जब दोनो एक दूसरे को खमाने लगती है तो उस क्षमापना की भावधारा मे ही दोनो को दिव्यज्ञान-केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है—

भगवान महावीर एक बार कौशाम्बी मे पधारे। समवसरण मे हजारो, लाखो देवता आये। सूर्य-चन्द्र भी अपने असली रूप मे दर्शन करने आये।[1] उनके विमानो का प्रकाश इतना फैला कि सध्या हो जाने पर भी किसी को सूर्यास्त का पता ही नही चला। सूर्यास्त समय होने पर भी दिन का सा उजेला हो रहा था। उस समय महासती मृगावती भगवान को वन्दना करने आई हुई थी। सूर्य-चन्द्र मडल के प्रकाश मे उसे विकाल वेला का पता ही नही चला। अन्य साध्वियाँ महासती चन्दनबाला के साथ अपने स्थान पर आ गई थी और विकाल वेला होने पर प्रतिक्रमण करके अपने स्वाध्याय ध्यान मे लीन हो गईं। जब सूर्य-चन्द्र गये तो सहसा अधकार हो गया। मृगावती सती चौंकी और तत्काल अपने स्थान पर आई। विकाल वेला होने पर महासती चन्दनबाला ने उसे टोका—आर्या! आपने यह भूल कैसे की? विकाल होने पर साध्वी को साधुओ के उपाश्रय मे नही रहना चाहिए, आप इतनी विज्ञ होकर भी इतनी भयकर भूल कैसे कर बैठी? आप जैसी कुलीन साध्वी को यह भूल शोभा नही देती।"

समझदार को थोडा-सा उपालभ भी बहुत होता है। महासती मृगावती को गुरुणी का यह उपालभ सचमुच ही प्रकाश की एक किरण सिद्ध हुआ। तुरन्त ही अत्यन्त नम्रता और सरलता के साथ उसने गुरुणी के चरणो मे क्षमा याचना की—आर्या! सचमुच मुझ से बहुत बडी भूल हो गई। भविष्य मे सदा ध्यान रखूँगी।

महासती चन्दनबाला अपने ध्यान आदि से निवृत्त होकर निद्राधीन हो गईं। किन्तु मृगावती सती आत्मालोचन करती रही। आज की अपनी भूल पर बार-बार पश्चात्ताप करती हुई जीव के प्रमाद स्वभाव पर विचार करने लगी। आत्म-निरीक्षण मे उनकी भावना इतनी गहरी पहुँची कि कर्मों का क्षय करती हुई महासती मृगावती केवलज्ञान से विभूषित हो गई। अनन्त ज्ञानालोक उनके अन्तर जगत को प्रकाशमान करने लगा।

उसी समय, रात के गहन अन्धकार मे एक काला नाग घूमता हुआ महासती चन्दनबाला के पास आ गया। सती मृगावती तो अपने ज्ञानालोक से सब देख रही थी

१ भगवान महावीर के २४ वें वर्षावास की घटना।

उन्होंने गुरुणी (चन्दनबाला) का हाथ जरा-सा ऊँचा उठा दिया। चन्दनबाला एकदम जाग पड़ी। पूछा—मेरा हाथ ऊँचा किसने किया? क्यों किया?

सती मृगावती ने अत्यन्त नम्रता के साथ कहा—आपके हाथ के पास से एक नाग निकल रहा था। इसलिए मैंने हाथ ऊँचा कर दिया?

चन्दनबाला—इस अन्धकार मे आपको साँप कैसे दीख सका?

मृगावती—ज्ञान से?

आश्चर्यपूर्वक चन्दनबाला ने पूछा—क्या कोई ज्ञान हुआ है?

मृगावती—आपकी कृपा से?

चन्दनबाला—प्रतिपाती या अप्रतिपाती?

मृगावती—आपकी कृपा से अप्रतिपाती (कभी नहीं जाने वाला) ज्ञान हुआ है।

सुनकर साध्वी चन्दनबाला स्तब्ध रह गई। वह सोचने लगी—हन्त! मैंने केवली की असातना कर दी? आज इनको मैंने कितना उपालम्भ दिया? वह केवली महासती मृगावती को नमाने लगी और स्वयं की निन्दा (आत्म-निन्दा) करने लगी। आत्मालोचन और क्षमापना करते-करते महासती चन्दनबाला ने भी अपने घाति कर्मों का नाश कर डाला और वह भी केवलज्ञानी हो गई।

तो, इस प्रकार क्षमा लेने वाली और क्षमा देने वाली दोनो ही आत्म-निरीक्षण करते-करते कर्मों के समूह का नाश कर केवली बन गईं। यह चमत्कार है क्षमापना का! इसीलिए तो भगवान ने कहा है—

खमावणयाए णं पल्हायण भाव जणयइ—क्षमापना से आत्मा में प्रह्लाद भाव की जागृति होती है, और इससे कर्मों का नाश होकर अपूर्व आनन्द व शांति की अनुभूति होती है।

बिना क्षमापना के आराधना नहीं

क्षमा दान का आध्यात्मिक जीवन मे तो बहुत अधिक महत्त्व है ही, व्यावहारिक जीवन मे भी बहुत महत्त्व है। जब तक क्षमादान नहीं किया जाता, हृदय की गाँठ नहीं खुलती। और गठीला आदमी, हृदय की गाँठ वाला मनुष्य संसार मे कहीं भी आदर नहीं पा सकता। गाँठ वाली वस्तु को न कोई पसन्द कर सकता है, न खरीदता और न कोई अच्छी वस्तु! जिस चीज मे गाँठ होती है उसे अशुभ मानते है। शरीर मे भी अगर गाँठ होती है तो डाक्टर लोग उसे खराबी कहते है और आपरेशन द्वारा निकाल देते है। शरीर की गाँठ निकलने पर ही शरीर मे शान्ति और चैन मिल सकती है। तो, जब शरीर की गाँठ का भी यह हाल है तो मन की गाँठ का तो और भी बुरा होगा। मन एवं आत्मा मे जब तक गाँठ पड़ी है तब तक धर्म का संचार नहीं हो पाता। इसीलिए तो भगवान महावीर ने कहा है—जो निग्गन्थ नहीं होता।

वह आराधक नही हो सकता। जो कषाय का, क्रोध का, उपशमन नही करता—वह धर्म का आराधक भी नही—

जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा।
जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा॥

—जो क्रोध का उपशमन नहीं करता। उसकी आराधना नहीं होती। जो क्रोध आदि का उपशमन करता है, खमत-खामणा करता है वही आराधक होता है।

आप लोगो ने राजा उदायन का कथानक सुना ही होगा। पर्युषण पर्व की आराधना के लिए उसने अपने अपराधी दुश्मन (चडप्रद्योत) को भी जाकर खमाया और कितनी सरलता एव विनम्रता के साथ! वह व्यग्य मे बोलता गया—यह कैसा खमत-खमाना? मुझे बन्दी बनाकर खमा रहे हो? मैं तो ऐसे क्षमापना नहीं करता। पहले मुझे बधन मुक्त करो, तभी मैं क्षमापना करूँगा?

सरलहृदय उदायन ने अपने पौषधव्रत की, पर्युषण पर्व की, आराधना के लिए मन को नि शल्य बनाया और सचमुच मे शत्रु को बन्धनमुक्त करके उसे समानता का अधिकार दिया और फिर उससे क्षमापना कर अपनी सरलता, नम्रता और उपशान्त वृत्ति का अद्भुत परिचय दिया। उदायन का यह क्षमापना ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर आज भी आदर्श बना हुआ है और हमे पर्युषण मे क्षमापना की अमर प्रेरणा दे रहा है।

क्रोध की उग्रता के कारण चण्डकौशिक नाग ने कितने कष्ट पाये, क्षुल्लक मुनि ने क्रोध को शान्त कर चातुर्मासिक तपस्वी से भी अपनी साधना को उत्कृष्ट बना दिया।[1] मान कषाय की उग्रता के कारण अतुकारी भट्टा को कितने भयकर कष्ट उठाने पडे। माया एव लोभ कषाय के कारण भी साध्वी पडा और आर्यमगु ने कैसी दुर्गति पाई—ये उदाहरण हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे विद्यमान है। आचार्यो ने इन उदाहरणो के माध्यम से हमे कषायो की उपशांति की प्रेरणा दी है और आत्म-शुद्धि व आत्म-शाति के लिए कषाय-शुद्धि व कषाय शान्ति करने का उपदेश किया है। इन सब उदाहरणो पर मनन-अनुशीलन कर क्षमादान का महत्व समझना चाहिए और कषाय वृत्तियो को क्षीण करना चाहिए। वास्तव में कषाय का नाश ही कर्मो का नाश है, कषाय मुक्ति ही कर्म-मुक्ति है। इसीलिए तो कहा है—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे
न तर्कवादे न च तत्ववादे।
स्व-पक्ष सेवाश्रयणे न मुक्ति
कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।

---

१ राजा उदायन एव अन्य कथानक परिशिष्ट २ मे देखें।

मुक्ति का असली स्वरूप कषाय-मुक्ति ही है। न तो दिगम्बर रहने से मुक्ति मिलती है, और न श्वेताम्बर रहने से, तर्कशास्त्र पढ़ने से भी मुक्ति नहीं मिलती और न तत्त्ववाद में निपुणता प्राप्त करने से ही कोई मुक्तिलाभ होता है। अपनी परम्परागत बातों का कितनी ही दृढ़ता से पालन करो, उनसे मुक्ति नहीं, मुक्ति तो वास्तव में तभी मिलेगी जब कषाय से मुक्ति मिल जायेगी।

पर्युषण और संवत्सरी—कषाय मुक्ति का पर्व है। इन दिनों में कषायों की पर्युपशमना, उपशांति करके ही हमें आत्म-शांति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही पर्युषण पर्व की सच्ची आराधना है। यही क्षमा पर्व का सन्देश है—तुम स्वयं समस्त जीव जगत से क्षमायाचना करो और दूसरों को क्षमा दान दो।

९

पर्युषण में पठनीय आगम

कल्पसूत्र · पढने की ऐतिहासिक परिपाटी

बन्धुओ !

पिछली वार आपको यह बताया जा चुका है कि मूलत पर्युषण एक ही दिन का है, जिसे संवत्सरी कहते है, किन्तु उस पर्व की आराधना-समाराधना के लिए, आन्तरिक शुद्धि की तैयारी करने के लिए आचार्यों ने इसे अष्टाह्निक पर्व का रूप दे दिया। इस प्रसग मे जीवाभिगम सूत्र का यह उल्लेख भी महत्वपूर्ण है कि—नन्दीश्वर द्वीप मे चातुर्मासिक प्रतिपदा तथा सवत्सरी—पर्युषण पर्व के दिन, वैमानिक आदि चारो जाति के देव एकत्र होकर बड़े उत्साह और समारोह के साथ—अट्ठाहिता रूवाओ महामहिमाओ करेमाणा[1]—अठाई महोत्सव के रूप मे महान महिमा करते हैं। यह उत्सव किस प्रकार का होता है, इसमे आमोद-प्रमोद ही मनाया जाता है या अन्य धार्मिक कृत्य भी होते है—यह वहाँ स्पष्ट नही किया गया है, किन्तु यह तो पता चलता ही है कि पर्युषण—सवत्सरी को अष्टान्हिक महोत्सव के रूप में मनाने की यह प्राचीनतम परिपाटी है।

स्वभावत मनुष्य देवताओ से अधिक धार्मिक भावना वाला है, देवतागण सिर्फ मन से ही धर्म का आचरण करते है, जबकि मनुष्य काया से व्रत-नियम-तप-त्याग आदि के रूप मे सक्रिय धर्माचरण भी कर सकता है। इसलिए पर्युषण के अष्टान्हिक महोत्सव को धार्मिक मनुष्यो ने अष्टान्हिक पर्व का रूप देकर आठ दिन तप-त्याग मय मनाने की परिपाटी चालू की है, यह सहज ही सभव लगता है। इन दिनो में मुख्यत आत्मशुद्धि की तैयारी की जाती है। साधक अपने व्रत-नियमो आदि का पुन अवलोकन कर उनका निरीक्षण करता है कि मेरी ग्रहण की हुई, मर्यादा व नियमों मे कही कोई दोष तो नही लगा है न ? इस आत्म-निरीक्षण के लिए वह अपनी आचार-संहिता के ग्रन्थो का पुन:-पुन अवलोकन करता है। उन पर मनन करता है और चिन्तन करता है।

---

१ जीवाभिगम सूत्र, नन्दीश्वर द्वीप वर्णन,

प्राचीनकाल में यह परिपाटी थी कि श्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर में कल्पसूत्र (पर्युषणा कल्प समाचारी) का पठन व श्रवण करते थे। उसमें समाचारी का ही मुख्य वर्णन था। साधु के आचार-विचार और नियमों का, भिक्षाचरी, गमनागमन, विहार, केशलोच, क्षमापना आदि का विस्तृत वर्णन उसमें था, इसलिए पर्युषण काल में उसके पठन और श्रवण से उसका ज्ञान पुनः ताजा हो जाता था, और प्रत्येक साधक अपनी मर्यादाओं में जागरूक होकर पुनः सुस्थिर होने का प्रयास करता है। कल्पसूत्र के पृथ्वीचन्द्र टिप्पण में यहाँ तक बताया गया है कि यह कल्पसूत्र, गृहस्थ या अन्यतीर्थी के समक्ष नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि यह आचार-ग्रन्थ होने से सिर्फ श्रमण-श्रमणियों के लिए ही उपयोगी है।[1] यद्यपि चूर्णि एवं टिप्पणकार का यह मत कोई विशेष तर्क युक्त नहीं लगता है, क्योंकि आचारदशा में बताया गया है—"कि राजगृह नगर के गुणशीलक चैत्य में बहुत से श्रमण-श्रमणियों एवं बहुत से श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवियों की परिषद के समक्ष भगवान महावीर ने इस पर्युषणाकल्प नामक आठवें अध्ययन का अर्थ, हेतु, कारण आदि के साथ विवेचन कर उपदेश किया।"[2]

जब भगवान महावीर ने सब परिषद के समक्ष इसका वाचन किया तो फिर अन्य श्रमण-श्रमणियों को अन्य परिषद के समक्ष इसका वाचन नहीं करना, यह बात समझ में कम आने वाली है, तथा तर्क संगत भी नहीं प्रतीत होती, फिर भी जैसा प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है वैसा भी माना जाय तब यह प्रश्न खड़ा होता है, कि फिर पर्युषणा-काल में कल्पसूत्र का वाचन क्यों और कब प्रारम्भ हुआ, उसके पीछे क्या-क्या कारण रहे होंगे?

कल्पसूत्र की प्राचीन चूर्णि में बताया गया है कि लगभग वीर-निर्वाण से १ हजार वर्ष बाद आज से १५०० वर्ष पूर्व आनन्दपुर नगर में ध्रुवसेन नामक जैन धर्मानुयायी राजा हुआ। उसका एकमात्र पुत्र अल्पवय में ही काल-कवलित हो जाने से राजा शोक सागर में डूब गया। यह दुर्घटना पर्युषण के दिनों में ही घटी। इसलिए जैन संघ पर भी इसका अधिक असर पड़ा। तब राजा के पुत्र शोक को दूर करने के लिए किसी चैत्यवासी मुनि ने चतुर्विध संघ के समक्ष कल्पसूत्र का वाचन किया। तभी से कल्पसूत्र—जनता के समक्ष पढ़ने की परिपाटी प्रारम्भ हो गई।

कल्पसूत्र के आकार में परिवर्तन

ध्रुवसेन राजा की इस घटना को प्रायः सभी विद्वानों ने माना है। किन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि राजा का पुत्र शोक दूर करने के लिए कल्पसूत्र का ही वाचन क्यों किया गया? जबकि इसमें तो सिर्फ साधु-साध्वियों की समाचारी का ही वर्णन है? उत्तराध्ययन सूत्र, ज्ञाताधर्म कथांग, अनुत्तरोपपातिक दशा जैसे वैराग्यप्रधान सूत्र

१ कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्र टिप्पण (कल्पसूत्र प्रस्तावना देवेन्द्रमुनि)
२ आचारदशा (मुनि कन्हैयालाल जी, 'कमल' पृ० १३४) ८।३

का वाचन क्यो नही किया गया ? इस प्रश्न का समाधान भी विद्वानो ने खोजने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानो का कहना है कि वीर निर्वाण के हजार वर्ष वाद भारतवर्ष मे ब्राह्मणवाद का जोर फिर से वढने लग गया था। बौद्ध सप्रदायो का भी पुन अभ्युदय हो रहा था। और श्रमण सप्रदायो में प्रभावक आचार्यों का अभाव होने लग गया था। चातुर्मास काल मे ब्राह्मण सप्रदाय मे रामायण, महाभारत, भागवत जैसे ग्रन्थो के वाचन-श्रवण की प्रथा भी खूब जोर पकड रही थी। जनता उस ओर आकर्षित होती थी। झुण्ड के झुण्ड जमा होकर उन ग्रन्थो का पठन-पाठन और श्रवण चातुर्मास मे करते और इसे विशेष महत्व देते। बौद्ध सप्रदाय मे भी भगवान बुद्ध के जीवन ग्रन्थ और विनय-आचार-शिक्षा के ग्रन्थ खूब पढे जाते थे। जवकि जैन सम्प्रदाय मे तव तक कोई ऐसी परिपाटी नही थी। अपने पडोसी सम्प्रदायो मे ऐसी प्रथा देखकर जैनो का भी उस ओर आकर्षण वढना स्वाभाविक था। उनमे भी अपने त्यागी महापुरुषो की जीवन-गाथाएँ सुनने, उनके त्याग-तपोमय जीवन की प्रेरक कहानियाँ तथा उनके आचार-मर्यादाओ की जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जनता की इस भावना से वुद्धिशाली जैन आचार्य परिचित हुए, जन-रुचि का ध्यान रखना और तदनुकूल प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना—जैनाचर्यो की विशेषता रही है। ध्रुवसेन राजा की घटना उसी समय घटी और तव इस ओर सोचने का एक प्रसग वना। इस घटना के वहाने ही सही, आचार्यो ने कल्पसूत्र का वाचन जनसभा मे प्रारम्भ कर दिया। उसम अपने आराध्य देवो का जीवन चरित्र प्रारम्भ मे जोड दिया गया, जो पहले नही था, और समाचारी का भाग जो पहले साधुओ के समक्ष ही पढा जाता था, उसे गौण करके वाद मे रख दिया।[1]

कल्पसूत्र के प्रारम्भ मे भगवान महावीर का विस्तृत जीवन चरित्र जुड जाने से वह अत्यधिक उपयोगी हो गया। यद्यपि भगवान महावीर का जीवन चरित्र आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के अध्ययन ८ मे है किन्तु एक तो वह बहुत ही सक्षेप मे है, फिर प्रथम आचारांग की भाषा भी वडी कठिन और सूत्रशैली वाली है, इसलिए वह साधारण पाठक के लिए दुर्वोध है। कल्पसूत्र का सम्पादन और परिवर्धन जिन विद्वान आचार्यो ने किया, उन्होने जन रुचि का विशेष ध्यान रखा। भागवत मे जैसा वर्णन, जिस शैली मे श्रीकृष्ण का किया गया है, उन्होने कुछ अशो मे वही शैली अपनाकर कल्पसूत्र मे भगवान महावीर का चमत्कारो से परिपूर्ण रोचक जीवन चरित्र लिखा। इससे जनता का आकर्षण वढा, धीरे-धीरे कल्पसूत्र का वाचन खूब वढने लगा कल्पसूत्र की मूल आगम के वरावर ही प्रतिष्ठा हो गई। उस पर प्राकृत-सस्कृत भाषा में कई टीकाएँ, सुवोधिकाएँ और टिप्पण आदि लिखकर उसे और अधिक रोचक तथा जनोपयोगी वनाया गया। इस प्रकार पर्युषण मे कल्पसूत्र का वाचन सार्वजनिक रूप मे नियमित होने लग गया। धीरे-धीरे उसके अलग-अलग अश अलग-अलग दिनो मे

१ पर्युषणपर्व व्याख्यान माला, पृष्ठ ११-१२ पंडित सुखलाल जी।

पढ़ने की परिपाटी भी चल पड़ी। अमुक दिन-भगवान का जन्म, अमुक दिन दीक्षा, अमुक दिन निर्वाण—इस प्रकार विभाग कर ७-८ दिन में यह वाचन पूर्ण किया जाता।

इस प्रकार पर्युषण के आठ दिनों में कल्पसूत्र पढ़ने की एक अखंड परम्परा चल पड़ी जो आज भी चालू है। श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदायों में पर्युषण में व्यक्ति चाहे अन्य कुछ तप-त्याग आदि कर सके या नहीं, परन्तु कल्पसूत्र पढ़ने व सुनने का अवश्य ही प्रयत्न करता है। हमारे स्थानकवासी समाज में भी अनेक स्थानों पर कल्पसूत्र पढ़ा जाता है। कहीं प्रातः और कहीं मध्यान्ह के समय। भगवान महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों का जीवन चरित्र सुनकर सामान्य श्रद्धालु भी आनन्दित हो उठते हैं।

कल्पसूत्र में आज तीन भाग हैं—प्रथम भाग में तीर्थंकरों का जीवन चरित्र है। सबसे पहले भगवान महावीर का विस्तृत जीवन चरित्र है। महावीर स्वामी हमारे निकटतम उपकारी थे, और वर्तमान धर्म परम्परा उन्हीं की देन है, इसलिए सबसे पहले उन्हीं का जीवन चरित्र अंकित किया गया है और फिर भगवान पार्श्व, आदि व्युत्क्रम से चलते हुये सबसे अन्त में भगवान ऋषभदेव का वर्णन है।

कल्पसूत्र का दूसरा भाग स्थविरावली है। जिन चरित्र के पश्चात् गणधरों से स्थविरावली का प्रारम्भ होता है। इन्द्रभूति गौतम से लेकर ग्यारह गणधर, आर्य सुधर्मा (पंचम गणधर), आर्य जम्बूस्वामी, आर्यप्रभव आदि का वर्णन करते हुए भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक की परम्परा का वर्णन कल्पसूत्र की स्थविरावली में किया गया है। इस परम्परा के अनुसार अंतिम श्रुतधर (एक पूर्वधर) आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण हुये। यहाँ तक की परम्परा को 'नाथ-परम्परा' अर्थात् शुद्ध परम्परा माना गया है। इसके बाद जैन संघ में अनेक प्रकार के शिथिलाचार और वाद-विवाद खड़े हो गये जिनके कारण उसकी उज्ज्वलतम गरिमा जो क्षीण होने लग गई, जनता में उसका व्यापक प्रभाव कम होता गया और श्रमण की शुद्ध आचार परम्परा के स्थान पर, चमत्कारपूर्ण क्रियाकलाप तथा सुविधा वादी आचार-परम्परा चल पड़ी।

कल्पसूत्र का तीसरा भाग समाचारी है। यही उसका अंतिम विभाग है। ज्ञान का सार आचार है—णाणस्स सारं आयारो—आचार ही मुक्ति का साधन है। आचार का निर्दोष और शुद्ध पालन करना प्रत्येक श्रमण-श्रमणी का कर्तव्य है, यही उनका जीवन धन है। इसका निरूपण, कल्प्य-अकल्प्य का ज्ञान कराने वाला भाग समाचारी प्रकरण में है। समाचारी का अर्थ है—सम्यक् आचार। कल्प्य-अकल्प्य का विवेक तथा साधु जीवन की निर्दोष प्रवृत्ति। इसका वर्णन ही समाचारी है। यह कल्पसूत्र के तीसरे भाग में है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कल्पसूत्र का प्राचीनतम भाग यही समाचारी है। इसे ही 'पज्जोसवणा कप्प' (पर्युषणा-कल्प) कहा गया है, जो आचार

दशा (दशाश्रुतस्कध) का ८वा अध्ययन है। डाक्टर विंटरनित्स ने भी इसे ही कल्प-सूत्र का प्राचीनतम भाग होने की सम्भावना व्यक्त की है।[1]

सक्षेप मे कल्पसूत्र का यह परिचय है, और पर्युषणा-काल मे उसके पढने की एक कहानी है।

अन्तगड सूत्र का वाचन कारण और उपयोगिता

भगवान महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद से पन्द्रह सौ वर्ष तक का लगभग पाँच सौ वर्ष का मध्य काल कई दृष्टियो से जैन धर्म की अवनति का काल माना जाता है। इस युग मे अनेक प्रभावशाली विद्वान आचार्य तो हुए, लेकिन आचार की दृष्टि से वे इतने सशक्त और सम्पन्न नही थे। धर्म मे आडम्बर, द्रव्य पूजा और लौकिक एषणाओ के कारण वे राजकीय मान-सम्मान और चमत्कारो मे फँसकर साधु के उज्ज्वल निर्मल चारित्र से कुछ दूर हटने लग गये थे। आगम वर्णित साध्वाचार के नियमो मे काफी ढीलाई आ गई थी। आगमो मे यत्र-तत्र द्रव्य पूजा, जिन मन्दिर-निर्माण आदि के क्षेपक भी डाल दिये जाने का साहस कुछ आचार्य करने लग गये थे। इस प्रकार साधु जीवन की, अहिंसा-सत्य-अपरिग्रह की उज्ज्वल मर्यादा खडित होने लग गई थी।

पर्युषण में कल्पसूत्र का वाचन करने की परिपाटी काफी प्रचलित हो चुकी थी और वह आगम की भाँति ही जनता की श्रद्धा का केन्द्र बन गया। इस श्रद्धा का लाभ उठाकर आचार्यों ने कल्पसूत्र के माध्यम से भी आडम्बर को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। भगवान का जन्म-अभिषेक, जन्म-महोत्सव, दीक्षा कल्याणक आदि के वाचन पर अनेक प्रकार की पूजाएँ, आडम्बर और जिन-चैत्य आदि के लिए धन सग्रह के आयोजन होने लग गये। मतलब यह है कि कल्पसूत्र को आधार बनाकर शुद्धधर्म मे अनेक प्रकार के आडम्बर आ घुसे। विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि भुलाई जाने लगी और बाह्य दृष्टि मुख्य बन गई। पर्युषण का लक्ष्य आत्म-शुद्धि कम रह गया, उत्सव, समारोह और आडम्बर अधिक हो गया।

इस स्थिति को देख कर शुद्ध अध्यात्म प्रेमी साधको का मन बहुत चिन्तित हुआ। पर्युषण को वे शुद्ध आध्यात्मिक जागृति का पर्व ही रखना चाहते थे, तप-त्याग एव आत्म निरीक्षण की प्रेरणा का पर्व ही रखना उनका लक्ष्य था।

अध्यात्मोन्मुखी आचार्यों ने कल्पसूत्र के स्थान पर किसी अन्य आगम का पारायण पर्युषण में करने का चिन्तन किया, वे ऐसा आगम खोज रहे थे जिसमे तप-त्याग की अमूल्य प्रेरणाएँ भी हो, महापुरुषो के जीवन का इतिहास भी हो। बहुत तप-त्याग प्रधान चरित्रो की खोज मे उनकी दृष्टि अन्तगड सूत्र पर जमी। यह एक ऐसा आगम था, जिसमे भगवान नेमिनाथ, वासुदेव श्रीकृष्ण और भगवान महावीर के युग

---

1. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर डा० विंटरनित्स

के अनेक महान तपस्वि मुमुक्षुओं वीर साधकों, क्षमा और सरलता की विरल विभूतियों का चरित्र एक साथ गूंथा हुआ है। तप, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, सेवा, सरलता और सहनशीलता के ऐसे अपूर्व चरित्र इस आगम में हैं, जिन्हें पढ़-सुनकर पाठक को और श्रोता को रोमांच हुये बिना नहीं रहता। उसकी भावना ऊर्ध्वमुखी बन जाती है और वह आध्यात्मिक वातावरण में रम जाता है। इसके कथा सूत्र भी बड़े रोचक हैं, और प्रेरणाएँ भी बड़ी तेजस्वी और सबल हैं। आचार्यों ने देखा—यह आगम कल्पसूत्र का विकल्प बन सकता है। कल्पसूत्र के स्थान पर इसका वाचन अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

बस, विचार कार्य रूप में बदला और धीरे-धीरे कल्पसूत्र के स्थान पर अंतगड सूत्र के वाचन की परम्परा प्रारम्भ हो गई। हालांकि कल्पसूत्र अधिक लोकप्रिय हो चला था, इसलिए उसका वाचन मध्याह्न के समय किया जाने लगा और अंतगड सूत्र एवं आचारांग सूत्र का महावीर चरित्र मुख्य रूप से प्रातःकालीन मुख्य प्रवचन का विषय बन गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से, कल्पसूत्र के स्थान पर अंतगड सूत्र का वाचन कब किन आचार्यों ने प्रारम्भ किया, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख आज नहीं मिलता है, पर ऐतिहासिक कारणों की खोज में यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि यह महान परिवर्तन लोंकाशाह की उस धर्म-क्रान्ति का ही परिणाम है, जो इस युग में फैले हुए शिथिलाचार, धार्मिक आडम्बर और द्रव्यपूजा के विरुद्ध की गई थी। सम्भवतः स्थानकवासी परम्परा के आदि आचार्यों ने ही यह परिवर्तन किया हो, कुछ भी हो, किसी ने भी यह परिवर्तन करने का साहस किया हो, पर जिस किसी तेजस्वी सत्पुरुष ने यह परिवर्तन किया, वह सत्पुरुष ही बड़े साहसी, दीर्घद्रष्टा और अध्यात्म दृष्टि से सम्पन्न रहे हैं। उनकी दूरगामी अध्यात्मवादी दृष्टि ने ही ऐसे आगम रत्न को खोजकर जन-जन के लिए सुलभ बनाया। हम आज भी उनकी सुधारवादी दृष्टि के आभारी हैं और युग-युग तक रहेंगे।

अंतगड सूत्र : अन्तरंग परिचय

इतिहास हमारे लिए सबसे बड़ा आलोक स्तम्भ होता है। वह अनुभव और प्रेरणा का जीता-जागता रूप है। उससे प्रकट होने वाली प्रकाश किरणें, अन्धकार में भी हमें मार्गदर्शन कराती रहती हैं। मद, दुर्बलता, वासना, मलिनता और कमजोरियों के अन्धकार में इतिहास की ये दिव्य किरणें हमें संयम, आत्म-विजय और वीतरागता का पथ दिखाकर आध्यात्मिकता के शिखर तक पहुँचा देती हैं। इसलिए इतिहास का बड़ा महत्त्व है।

अंतगड सूत्र एक ऐतिहासिक चरित्र-ग्रन्थ है। इसमें भगवान नेमिनाथ एवं भगवान महावीर के युग के ९० महान साधकों का संक्षिप्त जीवन चरित है। यह संक्षेप भी इतना ही है कि वर्णक के पाठ दिए हैं, और अंतगड सूत्र की [illegible]

अगो मे आठवा अग है, और इस अग आगम के आठ वर्ग—अध्याय हैं। अष्ट सिद्धि का यह सयोग भी अपने आप ही मिल गया है। आठ कर्मों का सम्पूर्ण नाश करने वाले महान नब्बे साधको का जीवन चरित्र इसमे है।

इस आगम का नाम अतगडदशा अर्थात्—अतकृत् दशा है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने कहा है—

अन्तो—भवान्त., कृतो—विहितो यैस्ते अन्तकृता·

—भव-ससार का अन्त जिन्होंने कर दिया, वे अन्तकृत कहलाते हैं। उन-अन्तकृतो - अर्थात् मोक्ष मे पधारे हुए सिद्ध आत्माओ का वर्णन इस आगम में है। इसके आठ वर्ग हैं। प्रथम एव अतिम वर्ग मे दश-दश अध्ययन हैं, इसलिए इसे "अन-कृत-दशा" कहा जाता है।

इस आगम के प्रथम वर्ग से पाँचवें वर्ग तक मे भगवान नेमिनाथ के युग के साधको का वर्णन है।

प्रथम वर्ग मे दस,
द्वितीय वर्ग मे आठ
तृतीय वर्ग मे तेरह
चतुर्थ वर्ग मे दस
पचम वर्ग मे दस—

यो कुल ५१ अध्ययन हैं। इनमे पहले चार वर्ग के ४१ अध्ययन मे उन राजकुमारो का वर्णन है जिन्होने श्रीकृष्ण वासुदेव की अपार साहिबी, वैभव और सुख-सुविधाओ-भरी जिन्दगी को त्याग कर कठोर सयम जीवन अपनाया। गौतमकुमार, गजसुकुमाल, जालि-मयाली, दृढनेमि आदि राजकुमारो ने भगवान अरिष्ट-नेमि के चरणो मे पहुँचकर सयम का असिधारा-पथ स्वीकार किया, विविध प्रकार के तपो का आराधन किया और अन्त मे केवलज्ञान प्राप्त कर परमपद मोक्ष की प्राप्ति की।

पाँचवें वर्ग के दस अध्ययन मे वासुदेव श्रीकृष्ण की पद्मावती सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि आठ रानियाँ तथा दो पुत्रवधुओ का वैराग्यमय वर्णन है। इन पुष्पो की शय्या मे सोने वाली राजमहिषियो ने कितनी कठोर और उग्र साधना का मार्ग अपनाया। उनके जीवन मे कितना बडा परिवर्तन आ गया, एक ओर राजमहिषी का सुख वैभव और एक ओर कठोर साधना का मार्ग! नारी जितनी सुकुमार है उतनी ही तप-साधना में सिहनी की भाँति कठोर भी है—यह इन अध्ययनो की गाथाओं मे ज्ञात होता है।

छठे अध्ययन से आठवें अध्ययन तक अर्थात् इन तीन अध्ययनो में भगवान महावीर के शासनकाल के ३९ उग्र तपस्वी, क्षमामूर्ति और महान सन्तात्मा साधु-साध्वियो के कठोर तपोमय जीवन की उज्ज्वल रेखाएँ है।

छठे वर्ग के सोलह
सातवें वर्ग के तेरह
आठवें वर्ग में दस

—यों कुल ३६ अध्ययन हैं। इन तीन वर्गों की विशेषता यह है कि छठे वर्ग में जहाँ अतिमुक्तक, अर्जुनमाली, मेघकुमार जैसे क्षमा और समता के महान साधकों का वर्णन है, वहाँ सातवें-आठवें वर्ग में महाराज श्रेणिक की २३ रानियाँ—काली-महाकाली, नन्दा आदि की हृदय कंपाने वाली उग्र तपश्चर्याओं का सजीव चित्रण हुआ है।

इस प्रकार अंतगड सूत्र के आठ वर्ग में सचमुच ही आठ कर्म शत्रुओं से संघर्ष करने की अद्भुत प्रेरणा भरी हुई है।

इस सूत्र के मूल प्रवक्ता भगवान महावीर हैं। बाद में सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी को इस अंग सूत्र का अर्थ व रहस्य बताया।

तो, इस प्रकार पर्युषण पर्व के आठ मंगलमय दिनों में आगम के इन उदात्त चरित्रों का श्रवण कर हम अपने राग-द्वेष को शान्त करें, कषायों का उपशमन करें, मन को, सरल सहिष्णु और क्षमाशील बनाएँ, तप-त्याग की भावना की वृद्धि करें और पल-पल तथा पद पद पर आत्मनिरीक्षण करते हुए जीवन को शुद्ध करें। इसी भावना से साथ आगम वाचन की यह पुनीत परम्परा चल रही है।

द्वितीय खण्ड

प्रेरणाप्रद-प्रसंग

[पर्युषण पर्व पर पठनीय अंतगड सूत्र की समत्व-प्रधान कथाएं]

१

वैराग्यमूर्ति गौतमकुमार

धर्मप्रेमी श्रावक गण !

आप जानते ही हैं कि पर्युषण पर्व के पवित्र दिनों मे कल्पसूत्र एव अन्तकृत् दशा सूत्र का वाचन किया जाता है। इन सूत्रो के वाचन का मूल उद्देश्य यह है कि हम अपने आराध्य पुरुषो के पवित्र जीवन का श्रवण कर समय को सार्थक करें, तथा उनसे आत्म-कल्याण की प्रेरणा लें।

जब कोई बात हम सुनते हैं तो धीरे-धीरे हमारे मस्तिष्क पर, मन पर और हृदय पर उसका प्रभाव भी होता है। अगर अच्छी बात सुनते हैं तो मन मे अच्छे सस्कार जगेंगे, कोई बुरी बात सुनते है तो बुरे सस्कार जगेंगे। कहते हैं कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ मे था तब अर्जुन ने सुभद्रा को सेना के चक्रव्यूह मे प्रवेश कर उसके द्वार तोडने की युक्ति बताई थी। प्रवेश करने की युक्ति तो सुभद्रा ने ध्यानपूर्वक सुन ली, किन्तु व्यूह को तोडकर निकलने की युक्ति बताते समय सुभद्रा को नींद आ गई। गर्भस्थ अभिमन्यु ने चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की युक्ति उसी समय सीख ली। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तब वह गर्भकाल में सुनी हुई उस युक्ति के अनुसार कौरव-सेना की व्यूह रचना मे प्रवेश कर शत्रु सेना का नाश करने लग गया। भीम आदि पाडव पीछे रह गये और भीतर मे अकेले बालक अभिमन्यु को द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा आदि बड़े-बड़े महारथियो ने घेर लिया। चूंकि व्यूह रचना को तोडने की विधि उसे याद नहीं थी, जब अर्जुन ने सुभद्रा को यह विधि बताई तब उसे नींद आ गई थी इसलिए अभिमन्यु कौरवो के चक्रव्यूह को तोड़कर निकल नहीं सका और छ महारथियो ने अन्यायपूर्वक उसे घेरकर मार डाला।

कहने का अभिप्राय यह है कि सुनने का इतना गहरा असर होता है। गर्भ मे सुनकर भी अभिमन्यु ने चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की विद्या सीख ली। सुनते-सुनते कोई भी कथा, वार्ता, संस्कार बन जाती है। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने कहा है—भद्रं कर्णेभि शृणुयाम.—कानो से सदा अच्छी बात ही सुननी चाहिये।

पर्युषण के दिन हमारी आध्यात्मिक साधना के दिन हैं, समता और तितिक्षा भाव की वृद्धि करने के दिन हैं। तप-एव त्याग का आचरण करने के दिन है, इसलिए इन दिनों मे विशेष रूप से ऐसी घटनाएँ, ऐसे चरित्र सुनने चाहिये जिनके श्रवण से

हमारे मन में पवित्र संस्कार जगें। हमारी भावनाएँ शुद्ध एवं निर्मल बनें तथा तप-त्याग की आराधना में अधिक आत्मबल दीप्त हो। इसी दृष्टि से पर्युषण में जनसभा में हम अनगड सूत्र का वाचन करते हैं।

मैंने आपको बताया है कि इस सूत्र में नब्बे महान आत्माओं की जीवन-गाथाएँ हैं। इन महान् विभूतियों में वृद्ध भी हैं, तरुण भी हैं, बालक भी हैं, पुरुष भी हैं, नारियाँ भी हैं। त्याग-तपस्या की ये जीती-जागती मशालें हैं। क्षमा, समता और सरलता की ये दिव्य ज्योतियाँ हैं। इनका पवित्र चरित्र सुनने से, उनका नाम सुनने-मात्र से मन के विकार और दुर्भाव भी नष्ट हो जाते हैं, जैसे—

तीव्रातपोपहत - पान्थजनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि।

—ग्रीष्मकाल की भयंकर गर्मी और धूप से तपते हुये राही को पद्मसरोवर की ठंडी हवाएँ लगने से उसका पसीना, थकावट और प्यास दूर हो जाती है उन शीतल हवाओं के स्पर्श मात्र से ही उसका हृदय कमल खिल जाता है, और थका हुआ चेहरा चमकने लगता है, उसी प्रकार इन महान आत्माओं के पवित्र चरित्र को सुनने मात्र से ही हृदय की उदासी, जड़ता, प्रमाद और क्रोधादिक विकार नष्ट हो जाते हैं।

तो अब मैं मूल सूत्र की बात पर आता हूँ। इस सूत्र का प्रथम पाठ इस प्रकार है—

अंतगड सूत्र

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। वण्णओ। तस्सणं चंपाए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं पुण्णभद्दे णाम चेइए होत्था।''

—उस काल और उस समय में चंपा नामक नगरी थी। वह बड़ी दर्शनीय और मनोहर थी। औपपातिक सूत्र में उसका वर्णन किया गया है, उससे जानना चाहिए।

उस चंपानगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग में (ईशान कोण) में पूर्णभद्र नाम का चैत्य—यक्ष का आयतन था। वहाँ एक अतिरमणीय वन खंड—अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित उद्यान था।

अंतगड सूत्र का यह आख्यान आर्य सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू के समक्ष कहा है। इसलिए वे उस सूत्र की बातों को आगे रखते हुए कहते हैं कि उस काल—अर्थात् जिस समय की यह बात सुनाई जा रही है, उस युग एवं उस समय में चंपा नामक नगरी थी। उस नगरी में कोणिक राजा का राज्य था। और नगर के ईशान कोण में पूर्णभद्र नामक यक्ष का एक मंदिर-चैत्य था।

कोणिक, महाराज श्रेणिक का पुत्र था। श्रेणिक की राजधानी राजगृह थी।

किन्तु उसकी मृत्यु के बाद परिस्थितियो के कारण राजगृह से कोणिक का मन उचट गया। पिता की मृत्यु के कारण वह उदास और बेचैन-सा रहने लगा। राजगृह नगर के महल और राजसभा देखकर वह बार-बार पिता की स्मृति मे डूब जाता और उसके मन पर शोक का भार बढ जाता। राजगृह जैसी सुन्दर नगरी भी उसे अप्रिय और असुहावनी लगने लगी। तब कोणिक ने स्थान बदलने का निश्चय किया और दूसरे स्थान पर चपा नगरी बसाकर वही अपनी राजधानी बनाई।

यह चपा नगरी नई थी और मगध राज्य मे थी। यद्यपि इससे पहले भी चपा नगरी का वर्णन आता है, वह बहुत प्राचीन नगरी थी और वह अग देश की राजधानी थी। भगवान महावीर के समय मे वहाँ दधिवाहन राजा राज्य करता था।

कोणिक राजा ने चपा नाम की नई नगरी बसाई। यह बहुत सुन्दर और रमणीक थी। औपपातिक सूत्र मे चपा नगरी तथा कोणिक राजा आदि का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसकी सभी विशेषताओ का वर्णन करके बताया है कि एक सुन्दर नगरी तथा महान राजा की राजधानी बनने योग्य सभी बातें उस नगरी मे थी।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् जब सुधर्मा स्वामी भगवान के पट्ट पर विराजमान हुए तो अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ विहार करते हुए चपानगरी में पधारे। आर्य जम्बू सुधर्मास्वामी के प्रमुख शिष्य थे। जैन परम्परा मे जम्बू जैसा वैरागी, अनासक्त योगी साधक एक महान आदर्श है। भरी जवानी मे आठ सुन्दर रमणियो के साथ रात को विवाह होता है, ९९ करोड का दहेज आता है, अपार ऐश्वर्य आँगन मे बिखरा पड़ा है, और परम वैरागी जम्बू प्रात.काल ही आर्य सुधर्मा के चरणो मे पहुँचकर दीक्षा के लिए प्रार्थना करते है। उनके वैराग्य वचनो से प्रबुद्ध होकर नवयौवना सुन्दरियाँ, प्रभव जैसा प्रचड तस्कर पाँच सौ तस्करो के साथ और जम्बू एव सुन्दरियो के माता-पिता यो ५२७ व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे तेजस्वी, प्रतिभाशाली और महान् वैरागी जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा के साथ विहार करते हुए चपा नगरी मे पधारते हैं।

जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा को विनयपूर्वक वन्दना करके पूछते हैं—

जइण भते ! समणेण भगवया महावीरेणं आइगरेण जाव सपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाण अयमट्ठे पण्णत्ते। अट्ठमस्स णं भते ! अंगस्स अंतगडदसाण समणेण जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

भंते ! श्रमण भगवान महावीर जोकि इस युग मे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक (अपेक्षा से आदिकर्ता) थे। उन्होने अपने कार्य सिद्ध कर निर्वाण प्राप्त किया, उन भगवान महावीर ने सातवें अग सूत्र—उपासगदशा का जो अर्थ व रहस्य बताया है, वह आपने मुझे बताया, अब कृपा कर आठवें अग सूत्र—अतगड्दशा का अर्थ बताइए।

स्थविर सुधर्मा

आगम पाठ मे जहाँ सुधर्मा स्वामी का वर्णन किया है वहाँ उन्हे स्थविर शब्द

से पुकारा गया है—अज्ज सुहम्मे थेरे—आर्य सुधर्मा स्थविर। आर्य तो कहते हैं—श्रेष्ठ, कुलीन और सभ्य पुरुष को। किन्तु इसके साथ जो स्थविर विशेषण है वह बड़ा गम्भीर है। जैन परम्परा में ही नहीं, किन्तु संसार में सभी जगह 'स्थविर पद' बहुत सम्मानजनक रहा है। महाभारत में तो यहाँ तक कहा है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा

वह सभा, सभा ही नहीं है, जहाँ वृद्ध नहीं हों। वृद्ध के बिना धर्मसभा और राजसभा दोनों ही बेकार हैं। वृद्ध अनुभवी और परिपक्व होता है। राजस्थानी में कहावत है—'नरां, नाहरां डिगम्बरां पाकां ही रस होय' फल जैसे पकने पर मीठा होता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान और अनुभव से परिपक्व होने पर रसदार और मूल्यवान हो जाता है। एक राजस्थानी पद्य में कहा गया है—

वसतो वैद तपसेरी प्रोहित सबुल पान
ये तो जूना चाहिए राजा, शाह दीवान।

तो इन चीजों में तपस्वी, पुरोहित और दीवान—ये सलाहकार और धर्मनीति एवं राजनीति के संचालक माने गये हैं। इनकी पद-पद पर जरूरत रहती है। युवक कहते हैं—बूढ़ों की क्या जरूरत है, पर बूढ़ों में जो अनुभव है, वह युवकों में कहाँ से आयेगा। युवकों में जोश होता है, वृद्धों में होश होता है।

नन्दीसूत्र की टीका में एक कथा आती है। एक राजा के सामने कुछ नौजवान राजकर्मचारियों ने प्रार्थना की—महाराज! आप इन पके हुए केश वाले और जीर्ण शरीर वाले बूढ़ों को अपनी सभा से हटा दीजिए। इनमें कोई स्फूर्ति नहीं, कोई जोश नहीं है, ढीली माटी है। इनकी जगह नवयुवक अधिकारियों को रखिए, ताकि अपने राज्य की जल्दी से जल्दी उन्नति हो, विकास की गति तीव्र हो।

राजा अनुभवी था, उसने कहा—ठीक है। सोचेंगे।

कुछ दिन बाद राजसभा जुटी थी, एक ओर युवक कर्मचारी बैठे थे, एक ओर वृद्धजन। राजा ने प्रश्न किया—मेरे मुँह पर यदि कोई थप्पड़ मार दे तो उसे क्या दण्ड देना चाहिए?

युवकों ने तपाक से जवाब दिया—महाराज! उसे तो तत्काल मृत्युदण्ड देना चाहिए। ऐसे अपराधी का तो एक घाव दो टूक। तलवार के एक ही प्रहार से समाप्त कर डालना चाहिए।

राजा ने वृद्धों की तरफ देखा, वे मौन और चिन्तनमग्न थे। राजा के प्रश्न करने पर बोले—महाराज! हमारी समझ में तो यही बात आती है कि आपके मुँह पर थप्पड़ मारने वाले को स्नेह और सम्मान देना चाहिए।

राजा ने युवकों की तरफ देखा, वे भी आश्चर्यचकित थे। सोच रहे थे—इन बूढ़ों की बुद्धि सठिया गई है। राजा ने फिर वृद्धों से पूछा—आपने ऐसा निर्णय किया? अपराधी का सम्मान……?

वृद्धो ने निवेदन किया—महाराज ! किसकी हिम्मत है जो आकर आपके थप्पड मारे ? महारानी के सिवाय आपके मुंह पर हाथ लगाने की किसी की हिम्मत ही नहीं है। महारानी ही आपके मुंह पर हाथ लगा सकती हैं, इसलिए हमने सोचकर यही तय किया है कि महारानी को थप्पड के उत्तर मे प्यार और सम्मान ही देना चाहिए।

राजा सुनकर प्रसन्न हो गया और युवक अपनी अनुभव-हीनता पर नीचा सिर किये बैठे रहे।

तो, राजनीति की तरह धर्मनीति की बात मे, शास्त्रो के रहस्य जानने मे वृद्ध या स्थविर ही अधिक समर्थ होते हैं। इसलिए ज्ञान की दृष्टि से उनका सदा सम्मान और आदर किया जाता है।

जैन आचार्यों ने वृद्ध का अर्थ किया है—जिसका ज्ञानदर्शन, चारित्र, अनुभव आदि खूब परिवर्धित (वृद्ध—बढ़ा हुआ) हो गया है। ऐसे वृद्ध को स्थविर कहा गया है। स्थविर का सीधा-सा अर्थ है जो स्वय अपनी साधना मे स्थिर है, और दूसरो को स्थिर रखने मे समर्थ है। स्थविर तीन प्रकार के कहे गये है—१ वय स्थविर—जो साठ वर्ष के हो। २. श्रुत स्थविर—जो स्थानांग और समवायांग सूत्र के अर्थ और रहस्य के ज्ञाता हो।

३. दीक्षा स्थविर—जिनकी २० वर्ष की दीक्षा पर्याय हो गई हो।

आर्य सुधर्मा को स्थविर कहा गया है। वे तीनो ही दृष्टियों से स्थविर थे। ज्ञान के तो वे अक्षय-निधि थे। सम्पूर्ण द्वादशागी के रहस्यो को हृदयगम किया था। वे ही तो भगवान महावीर की वाणी के साक्षात् श्रोता और प्रवक्ता थे। तो उन सुधर्मा स्वामी के पास जम्बूस्वामी ने इस आठवें अग सूत्र अतकृत् दशा का अर्थ और रहस्य पूछा और तब स्थविर सुधर्मा ने बताया—

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव सपत्तेण अट्ठमस्स अगस्स अतगड दसाणं अट्ठ वग्गा पण्णत्ता।

—हे जम्बू ! श्रमण भगवान महावीर, जिन्होंने अपने सब कार्य सिद्ध कर लिये, उन्होंने आठवें अग के आठ वर्ग कहे हैं।

इनमे प्रथम वर्ग के दस अध्ययन कहे है। अर्थात् इस प्रथम वर्ग मे दस महान आत्माओ का वर्णन है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ गौतम, २ समुद्र, ३ सागर, ४. गम्भीर, ५. स्तिमित, ६. अचल, ७ कपिल, ८ अक्षोभ, ९ प्रसेनजित, १०. विष्णु।

वैराग्यमूर्ति गौतमकुमार

जैसा कि मैंने पहले बताया है, अन्तकृतसूत्र के ८ वर्गों में, पाँच वर्ग मे भगवान नेमिनाथ युग के ५१ साधको का वर्णन है, और तीन वर्गों मे भगवान

महावीर युग के ३६ साधकों का वर्णन है। पहले वर्ग के दस अध्ययनों में नेमियुग के दस साधकों का वर्णन है।

हम जिस युग की कहानी सुना रहे हैं वह नेमिनाथ युग की है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ इस धरती तल को पावन करते हुए भव्य जीवों को कल्याण मार्ग का उपदेश कर रहे थे और उनके चचेरे भाई[1] वासुदेव श्री कृष्ण द्वारिका नगरी में तीन खंड का राज्य कर रहे थे।

द्वारिका वर्णन

सूत्र में द्वारिका नगरी का विस्तृत वर्णन करते हुए बताया है कि यह द्वारिका नगरी सौराष्ट्र देश की राजधानी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। यह अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध थी। स्वयं धनपति कुबेर ने इस नगरी की रचना में अपना अद्भुत कौशल दिखाया था। उसका परकोटा सोने का था और उसके कंगूरे पाँच वर्ण के मूल्यवान रत्नों से जड़े हुए थे। वह हर प्रकार से सुन्दर और सुरम्य थी। अधिक वर्णन नहीं करके एक ही उपमा में शास्त्रकार ने कह दिया है—

> सुरम्मा अलकापुरी संकासा...
> पच्चक्खं देवलोग भूया पासाइया

उसकी सुरम्यता देखकर लगता था कि कुबेर की राजधानी अलकापुरी यही है। अलकापुरी के समान यह हर प्रकार से समृद्ध, स्वच्छ और दर्शनीय थी। दर्शक को ऐसा लगता था कि यह द्वारिका देख रहा है या देवलोक का दर्शन कर रहा है?

उस द्वारिका नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग में रैवत पर्वत था। उस पर एक नन्दन वन था। उस नन्दन वन उद्यान में सुरप्रिय नाम के यक्ष का यक्षायतन था। उसके मध्य में एक विशाल अशोक वृक्ष था। भगवान नेमिनाथ जब कभी द्वारिका नगरी में पधारते तो उस रैवताचल पर नन्दन वन में अशोक वृक्ष के नीचे भगवान का समवसरण लगता।

उस द्वारिका नगरी में यादवों का विशाल परिवार रहता था। जिनमें सबसे वृद्ध थे भगवान नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय जी। ये दस भाई थे जो 'दशार्ह' कहलाते। उनके विशाल परिवार में हजारों वीर, योद्धा और धनुर्धर थे। वासुदेव श्री कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं जिनमें रुक्मिणी और सत्यभामा प्रमुख थीं। यादवों के इस विशाल परिवार के अलावा हजारों नागरिक भी वहाँ रहते थे। सभी बड़े आनन्द और सुखपूर्वक वासुदेव की आज्ञा का पालन करते थे।

द्वारिका नगरी के अन्धकवृष्णि राजा थे। उनकी रानी का नाम था धारिणी।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सिद्धान्त पाठ में कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ—

---

१ भगवान नेमिनाथ समुद्रविजय जी के पुत्र थे, उनके छोटे भाई वसुदेव जी थे।

उल्लेख आया है, और यहाँ अधकवृष्णिराजा का। तो एक नगरी मे दो राजा कैसे थे ? और जब कृष्ण वासुदेव राजा थे तो अन्य राजा उसी नगर मे हो, यह कैसे सम्भव है ?

इस प्रश्न के समाधान मे लगता है, वासुदेव श्रीकृष्ण तो तीन खड के अधिपति थे ही, तीन खड मे उनकी अखड आज्ञा प्रवर्तित थी, किन्तु जैसे अन्य नगरो मे अधीनस्थ राजा अपने-अपने शासन का सचालन करते थे, वैसे ही यह सम्भव है कि कुल के वृद्ध एवं अग्रपुरुष होने के नाते वासुदेव ने नगर-शासन का सचालन अधकवृष्णि के हाथो मे रखा हो, उनके सम्मान एव आदर की दृष्टि से उनको राजा पद पर आसीन कर रखा हो यह सम्भव है। इसी कारण द्वारिका नगरी के राजा अधक वृष्णि का उल्लेख आता है।

एकबार धारिणी रानी सुखपूर्वक अपने शयनागार मे सोई थी। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उसने एक शुभ स्वप्न देखा। उस शुभ स्वप्न को देखकर रानी जागृत हुई और उठकर राजा अधकवृष्णि के पास आई। रानी ने अपना स्वप्न बताया तो राजा ने प्रसन्न होकर कहा—देवी! तुम किसी भाग्यशाली पुत्र की माता बनोगी!

रानी आनन्द के साथ विधिपूर्वक गर्भ की प्रतिपालना करती रही। योग्य समय पर एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ। नगर भर मे खूब उत्सव मनाया गया। बालक का नाम रखा गया—गौतम कुमार!

विद्याध्ययन के बाद गौतम युवा हुआ।

जोव्वण पाणिग्गहणं कंता पासाय भोगाय

यौवन मे प्रवेश करने पर आठ राज कन्याओ के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। सुन्दर रम्य भवनो में गौतम सासारिक सुख भोगने लगा।

भगवान अरिष्टनेमि का आगमन

ससार मे पूर्व पुण्यो से मनुष्य को भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु भोग सामग्री प्राप्त कर कुछ मनुष्य उसमे उलझ जाते है, और कुछ भोग मे भी जागृत और अलिप्त जैसे रहते हैं।

सासारिक सुखो की मधुरता को दो तरह की उपमाएँ दी गई हैं—एक माधुर्य है—शहद के जैसा। शहद मीठा होता है, मक्खी उस मधुरता को लेने आती है, उसकी मिठास तो लेती है, किन्तु उसी मे पंख आदि लिपट जाने से वह उस शहद पर से उड़ नहीं सकती। शहद की मिठास लेते-लेते वह शहद मे ही लिपट जाती है, और अन्त में उड़ नहीं पाती। उसी मे पंख फड़फड़ाकर रह जाती है और मृत्यु के मुख मे चली जाती है।

दूसरी मिठास है मिश्री की। मिश्री पर मिठास लेने जो मक्खी बैठती है, वह

मिठास लेकर भी स्वतंत्र रहती है, जितनी देर मन हुआ, मिठास लेती रही, जब मन हुआ उड़ गई अथवा जब आपत्ति आती दीखी तो झट से भाग गई।

शहद पर बैठने वाली मक्खी मिठास में फँस कर परतंत्र बन जाती है और मिश्री पर बैठने वाली मक्खी मिठास लेकर भी स्वतन्त्र रहती है। संसार में सुख भोगने वाले मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—जिनके अन्दर में ज्ञान है, आत्म चेतना जागृत है, वे मिश्री की मक्खी की तरह सांसारिक सुखों का भोग करते हुए भी आजाद रहते हैं, जब भी मन में थोड़ी-सी विरक्ति जगी, झट से उन भोगों का त्याग करके उनसे मुक्त भी हो जाते हैं। वे फूलों का रस पीने वाले भ्रमर हैं। जब तक मन हुआ रस पीया, जब विरक्ति हुई उड़ गये। किन्तु जो अज्ञानी, मोह ग्रस्त और विषयानंदी व्यक्ति होते हैं वे शहद की मक्खी की भाँति विषयों में फँस जाते हैं। भोगों में परतन्त्र होकर उनकी कैद में बन्दी बन जाते हैं। कीचड़ में फँसे गजराज की भाँति वे खूब चाहकर भी इन भोगों के कीचड़ से निकल नहीं पाते—

"नागो जहा पंक जलावसन्नो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं"[1]

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त मुनि चित्त से कहता है, हे मुनिवर! जैसे कीचड़ में फँसा हुआ हाथी सामने किनारा या सूखी भूमि देखकर निकलना चाहता हुआ भी निकल नहीं पाता, यही दशा संसार में मेरी हो रही है, कहने को चक्रवर्ती हूँ, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हूँ, लेकिन आत्मा से बिलकुल परतंत्र हो रहा हूँ, इन भोगों को बुरा समझते हुए भी छोड़ नहीं पा रहा हूँ। तो यह दशा है भोगी मनुष्य की।

गौतमकुमार संसार के रमणीय भोगों में लीन था, पर आसक्त नहीं था। उसकी आत्मा भीतर से जागृत थी। हृदय के भीतर ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित थी। विष खा रहा था, पर विष को विष मानकर छोड़ने की भी तैयारी में था। बस, तभी एक प्रेरक प्रसंग मिल गया, और वह प्रबुद्ध हो गया।

उस समय में जनपद में विहार करते हुए अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। रैवतगिरि के नन्दनवन में भगवान का समवसरण लगा। द्वारिका नगरी के नागरिक भगवान की वन्दना करने एवं उनका उपदेश सुनने के लिए बड़े उत्साह और भक्तिभाव के साथ रैवतगिरि पर पहुँचे। गौतमकुमार, जो अब तक भोगों की सुख-शय्या में सूता हुआ था, उसने भी देखा, आज सभी नागरिक रैवतगिरि की ओर बढ़े जा रहे हैं, क्या कोई उत्सव है, नाटक आदि है? जब पूछने पर उसे पता चला कि भगवान अरिष्टनेमि अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ रैवताचल पर पधारे हैं तो सहसा उसके हृदय में बिजली सी कौंध गई। अन्दर प्रकाश हो गया। आगे

---

१ उत्तराध्ययन १३।३०

सभी कार्यों को छोडकर गौतमकुमार सीधा भगवान के समवसरण में पहुँचा, वन्दना की और धर्म परिषद में बैठकर प्रवचन सुनने लगा।

गौतमकुमार सच्चा श्रोता था। उसकी बुद्धि की खिडकिया खुली थी और जिज्ञासा का पैदा होना भी ठीक था, भगवान की वाणी सीधी उसके हृदय मे उतरी, और वहीं ठहर गई। कुछ श्रोता, वास्तव मे श्रोता नही, सिर्फ भीड बन कर आते हैं। बुद्धि की खिडकी बन्द रखते है। ज्ञान की चाहे जितनी वर्षा हो, उनके हृदय मे एक बूँद भी नहीं जा सकती, भाग्य से कुछ बूँदें चली गई तो जिज्ञासा का पैदा नही होता, फूटे घड़े की तरह सभी पानी बह जाता है, और श्रोता रीते सूखे ही रह जाते हैं तो गौतम ऐसा श्रोता नहीं था। वह मिट्टी की भाँति ज्ञान की वर्षा को हृदय मे जज्ब करता रहा और वैराग्य के अकुर प्रस्फुटित हो उठे। उसकी विवेक दृष्टि जाग उठी। जब विवेक जागृत हो जाता है तो दृष्टि बदल जाती है, दृष्टि बदल जाती है तो अनुभूति भी बदल जाती है। गौतमकुमार जिस ससार को अब तक सुखमय समझ रहा था, वह उसे अब दुखमय लगने लगा, जो अब तक अपने को स्वतत्र समझ रहा था, वही स्वय को बन्धनो मे जकडा हुआ अनुभव करने लगा। उसे ससार दुःख और बन्धनमय प्रतीत होने लगा, और सुख सच्चा सुख, जिसका वर्णन प्रभु ने अभी-अभी किया था वह पाने के लिए विकल हो उठा। बस, फिर क्या देर थी। स्वाभिमानी और स्वतन्त्र व्यक्ति अधिक देर तक असमजस मे नही रहता। वह शीघ्र ही निर्णय कर लेता है, और निर्णय पर तुरन्त आचरण करने पर उतारू हो जाता है। प्रवचन समाप्त होने के बाद गौतमकुमार उठा, भगवान के समीप आया, और निवेदन करने लगा—प्रभो ! आपका प्रवचन बहुत ही सुन्दर है, यथार्थ है, मेरे मन के कण-कण मे रम गया है, जैसे वर्षा का पानी माटी के कण-कण मे रम जाता है। मैं अब आपकी शिक्षाओ पर आचरण करना चाहता हूँ, इस ससार की मोह-माया को त्याग कर साधु बन जाना चाहता हू—

अम्मापियरो आपुच्छामि, देवाणुप्पियाणं अतिए पव्वयामि

—मैं अपने माता-पिता से पूछकर आपके पास सयम की साधना करना चाहता हूँ।

गौतमकुमार की प्रार्थना पर भगवान ने सक्षिप्त-सा उत्तर दिया—अहा सुहं देवाणुप्पिया —हे देवानुप्रिय ! जैसा सुख हो वैसा करो, मा पडिबघ करेह ! विलम्ब मत करो !

प्रभु के इस उत्तर मे बहुत बड़ा रहस्य है। जैनधर्म स्वय प्रेरित धर्म है, मनुष्य की बुद्धि को जगा देना, विवेक जागृत कर देना—इतना ही इसका लक्ष्य है, किसी को बलपूर्वक आचरण करने के लिए यह बाध्य नही करता। इच्छापूर्वक जब मनुष्य कोई आचरण करता है तो उसमे दैवी बल होता है, आत्मिक बल होता है। अगर जबर्दस्ती भय, प्रलोभन आदि से कुछ कराया जाता है तो उसमें पाशविक या राक्षसी बल आ जाता है। अनिच्छापूर्वक किया गया तप भी वहाँ बाल तप कहा जाता है। इसलिए

प्रत्येक तीर्थंकरों ने अपनी वाणी मे यही उद्घोष किया है— जहा सुहं जैसा तुम्हें सुख हो, जिसमें तुम्हारी भावना हो, जो कार्य तुम्हे सच्चे विवेक के साथ करने मे रुचि हो, वही करो। हाँ, एक बात का ध्यान रखो, सिर्फ पड़े-पड़े मनसूबे मत बाँधो, जो ठीक समझा है, जिसे हितकर, सुखकर माना है, वह कार्य करने में अगल-बगल मत देखो, तुरन्त कर लो! शुभस्य शीघ्रं-शुभ कार्य करने मे देरी करना, आलसी और दीर्घसूत्री लोगों का काम है, वीर और साहसी व्यक्ति शुभ काम करने मे सबसे आगे रहते हैं। यही ध्वनि भगवान की वाणी मे गूँज रही है—मा पडिबंध करेह। पड़े-पड़े मत सुस्ताओ! शुभ काम में मुहूर्त मत देखो, जिस दिन सच्ची भावना जग गई वही सबसे बड़ा मुहूर्त है, बस चल पड़ो अपने लक्ष्य की तरफ।

प्रभु से स्वीकृति पाकर गौतमकुमार ने अपनी माता धारिणी और पिता अंधक-वृष्णि से दीक्षा की अनुमति माँगी। माता-पिता ने पुत्र को ससार मे रखने के अनेक उपाय किये, अनेक प्रलोभन दिये। पर, जिसके मन मे सच्चा वैराग्य जग गया है। वह कभी वापस भोगों की ओर नही मुड़ सकता। गौतमकुमार भी अपने निश्चय में दृढ़ रहा। आखिर माता-पिता ने अनुमति दी, उसका दीक्षा महोत्सव किया। जैसा ज्ञातासूत्र मे मेघकुमार के दीक्षा महोत्सव का वर्णन है, उसी प्रकार गौतम कुमार का भी दीक्षा महोत्सव मनाया गया और खूब धूमधाम से यह वैरागी गौतम कुमार भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण मे पहुँचा। माता-पिता ने भगवान से प्रार्थना की—भंते! हमारा यह पुत्र हमें अत्यन्त प्यारा है, आँखो का तारा है, यह ससार से विरक्त हो गया है, आपके चरणो मे अनुरक्त है, आप इसे संसार दावानल से निकाल कर संयम की शान्ति प्रदान कीजिए! हम आपको शिष्य-भिक्षा दे रहे हैं।

भगवान ने गौतम कुमार को साधु जीवन की कठोरचर्या बताई और अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह (ब्रह्मचर्य इसी में सम्मिलित था) रूप चातुर्याम धर्म की दीक्षा दी। गौतम कुमार अब गौतम मुनि बन गये। ईर्यासमिति आदि आठ प्रवचन माता की आराधना मे दत्तचित्त हो गये। अर्हत् अरिष्टनेमि के स्थविर मुनियों की सेवा मे रहकर सामायिक सूत्र (आवश्यक सूत्र) आदि ११ अगों का अध्ययन करने मे जुट गये। विद्या विनय से आती है, इसलिए मुनि गौतम कुमार स्थविरों की सेवा-विनय एवं भक्ति मे सदा तत्पर रहते। विद्या के साथ वे तप में भी पीछे नहीं रहे। इसलिए आगम मे कहा है—अहिज्जइ......अहिज्जित्ता ......तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ...... 'अग शास्त्रों का अध्ययन किया, अध्ययन करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करने लगा।

ज्ञान और तप की आराधना

गौतम मुनि के चरित्र मे यह बात जो कही गई है, वह जैन शासन की रीढ़ है। ज्ञान और तप-जीवन के दोनों ही परम आवश्यक हैं। ज्ञान रहित तप बालतप कहा गया है। बालतप से कायाकष्ट तो अधिक होता है किन्तु कर्म निर्जरा अल्प!

बाल तपस्वी तामली तापस जैसो का वर्णन सूत्रो में आया है, वहाँ बताया गया है कि हजारों वर्ष का घोर तप करने पर भी उनकी आत्मशुद्धि उतनी नही हुई, जितनी ज्ञानपूर्वक कुछ घडी का तप करने वाले साधकों की। अज्ञानी करोडो वर्ष की तपस्या मे जितने कर्म खपाता है, ज्ञानी उतने कर्म अथवा उससे भी अधिक कर्म श्वासोच्छ्वास मात्र काल मे ही खपा सकता है।

जं अण्णाणी कम्म, खवेइ भव सम सहस्स कोडीहिं।
त नाणी तिहिगुत्तो, खवेइ उस्सास मेत्तेण॥

इससे यह बात साफ हो जाती है कि ज्ञानपूर्वक किये गये तप का महान फल है, उसकी क्वालिटी सर्वोत्तम है, अज्ञान तप अधकार मे चलने जैसा है।

इसलिए जहाँ भी साधकों का वर्णन आता है वहाँ यह ध्यान देने की बात है कि वे पहले सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन करते हैं और फिर तपश्चरण मे जुटते हैं। क्या मेघकुमार, क्या धन्ना अणगार। सभी महान साधक—ज्ञान प्राप्त कर फिर तप करते हैं। वे तप का उद्देश्य समझ लेते हैं कि तप शरीर का नाश करने के लिए नहीं, किन्तु आत्मा की शुद्धि के लिए है। यदि यह विमल विवेक नहीं रहा, देखादेखी तप करने लगे तो न तो तप ही सधेगा और न लक्ष्य ही प्राप्त होगा बल्कि—

देखादेखी साधे जोग
छीजे काया बाढ़े रोग।

शरीर तो छीज जायेगा, पर आत्म-समाधि प्राप्त नहीं होगी। आत्म-समाधि और आत्म शुद्धि के लिए ज्ञान परम आवश्यक है। इसलिए ही गौतम मुनि पहले अध्ययन करते हैं, फिर चतुर्थ भक्त आदि विविध प्रकार के तप की आराधना करते हैं।

विशेष तपाराधना

भगवान अरिष्टनेमि कुछ समय बाद द्वारिका नगरी से विहार करते हैं, तब गौतम अणगार भी भगवान के साथ-साथ विहार करते हैं। ससार से, परिवार से जब ममता का बन्धन छूट गया तो फिर उनके लिए कोई भी अपना नगर नही, और कोई भी पराया नहीं। साधक, एक घर को छोडकर सारे ससार का हो जाता है सबको ही वह आत्म तुल्य समझता है, इसलिए उसके लिए न अपना नगर प्रिय है, न अन्य नगर अप्रिय, बल्कि सम्पूर्ण भूमण्डल ही उसकी तपोभूमि और मातृभूमि जैसा है।

गौतम अणगार बहुत समय तक भगवान के साथ विहार करते रहे। गुरुजनो की सेवा, विनय, ज्ञानाराधना एव तपश्चर्या करते-करते एक बार उनके मन में एक महान संकल्प उठा। सकल्प करने मे व्यक्ति स्वतन्त्र है, किन्तु उसे पूरा करने के लिए गुरुजनो की अनुमति स्वीकृति भी आवश्यक है। इससे एक बडा लाभ यह है कि अगर उस संकल्प की पूर्ति में कही कोई विघ्न, या अटकाव आने वाला हो तो ज्ञानी गुरु शिष्य

को सावधान कर सकते हैं। साधना के पीछे अगर कोई अन्य विचार या विकल्प छिपा हो तो उसे भी गुरु शुद्ध कर सकता है। साधना में गुरु का मार्ग दर्शन और आशीर्वाद बहुत ही सहायक होता है, उससे हमारा आत्म-बल बढ़ता है, और संकल्प में वज्र शक्ति आ जाती है। इसलिए आप देखेंगे, शिष्य जब भी कोई कठोर तपश्चरण या साधना करने को प्रवृत्त होता है तो वह पहले गुरुजनों के चरणों में आकर अपनी भावना व्यक्त करता है और फिर उनका आशीर्वाद लेकर आगे बढ़ता है। सूत्र में कहा है—

तए णं से गोयमे अणगारे अन्नया कयाइं जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ

तब, जब मन में संकल्प उठा, वह गौतम अनगार एक बार भगवान अरिष्टनेमी जहाँ विराजमान थे, वहाँ उनके चरणों में पहुँचे। विनयपूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना की और वन्दना करके भगवान से निवेदन करने लगे—

इच्छामि णं भन्ते! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

भगवन्! यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो तो मैं मासिक भिक्षु प्रतिमाओं की साधना करना चाहता हूँ।

भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन भगवतीसूत्र में किया गया है जहाँ स्कन्धक मुनि बारह भिक्षु प्रतिमाओं की साधना-आराधना करते हैं। यह तपस्या बड़ी ही कठोर और उत्कृष्ट ध्यानयोग की साधना है। आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध ७) में भी भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन आता है वहाँ बताया है,

—भिक्खु पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति ते उप्पन्ने सम्मं सहति खमति तितिक्खति अहियासेति।[1]

—भिक्षु प्रतिमा धारण करने वाला अनगार शरीर की ममता से मुक्त होता है। शरीर को जैसे त्याग दिया हो, वोसरा दिया हो, इस प्रकार की अनासक्तवृत्ति वाला, देह में विदेह भाव में जीने वाला होता है, वह महान धैर्यशाली तथा सहनशील होता है। भिक्षु प्रतिमा प्रारम्भ करते समय ही वह प्रतिज्ञा करता है, जो कोई देव सम्बन्धी मनुष्य सम्बन्धी, तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होंगे उन्हें मैं समभावपूर्वक, पूर्ण तितिक्षा और धैर्य के साथ सहन करूँगा, दैन्य भाव से दूर रहकर उन्हें अपने द्वारा सहूँगा।"[2]

यह कठोर-तितिक्षा वही साधक कर सकता है, जिसने देह की

१ आचारदशा, ७ सूत्र ३।
२ १२ भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन परिशिष्ट २ में देखें।

सम्पूर्ण ममता त्याग दी हो। इन बारह प्रतिमाओ की साधना करना सचमुच खाडे की धार है। दीर्घकाल तक एक जैसी उत्कट भाव श्रेणी पर बढते रहना महान-धीर-वीर तपस्वी और इच्छाओ का पूर्ण दमन करने वाले साधक के लिए ही सभव है।

तो गौतम अणगार भगवान अरिष्टनेमि से अनुमति प्राप्त करने की प्रार्थना करता है, सर्वज्ञ प्रभु ने उसकी अडिगनिष्ठा और धीरता-वीरता देखकर आज्ञा प्रदान कर दी। गौतम अणगार जुट गये इस कठोर साधना मे। कुल २८ मास और २३ दिन में इस प्रतिमा-साधना को पूर्ण कर वे अपने सकल्प मे सफल हुए।

गुणरत्न सवत्सरतप

यद्यपि गौतम कुमार शरीर से बड़े ही सुकुमार थे, पर उनका मन उतना ही कठोर था। महान आत्माओ की यही तो विशेषता होती है, तन फूल-सा कोमल और मन वज्र-सा कठोर। तन की सुकुमारता देखकर लोग सोचते हैं, यह इतना सुकुमार व्यक्ति कैसे इस खाडे की धार पर चल सकेगा, पर जब उसे सफलतापूर्वक खांडे की धार पर चलता देखते हैं, मोम के दांतो से लोहे के चने चबाते देखते है, तो दग रह जाते हैं। गौतम अणगार के विषय मे भी ऐसा ही था। भिक्षुप्रतिमा की आराधना से उनका शरीर और भी दुर्बल हो गया, पर आत्मबल पहले से अधिक तेज हो गया। मेहदी जितनी पीसी जाती है, उतना ही रग लाती है, साधक जितना तप तपता है, उतना ही उसका बल प्रदीप्त होता है। यह स्वाभाविक बात है कि व्यक्ति जैसे-जैसे अपने कार्य में सफल होता जाता है, वैसे-वैसे उसका उत्साह बढता है। गेंद जितने वेग से जमीन पर गिरती है, उतने ही वेग से ऊँची उछलती है। साधक भी अपनी साधना मे जितनी गहरी सफलता प्राप्त करता है, उतनी ही अधिक शक्ति से पुन उग्र से उग्र तप करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

गौतम अणगार बारह भिक्षु प्रतिमाओ की सफल साधना करके अब गुणरत्न सवत्सर तप की आराधना मे जुट गये।[1] इस कठोर और दीर्घकालिक तप के द्वारा गौतम अणगार का शरीर एकदम क्षीण हो गया। मास और रक्त सूख गया। शरीर मात्र हड्डियो का ढांचा-सा रह गया। उठते-बैठते भी, जबान हिलाने पर भी उनको कष्ट अनुभव होने लगा। आश्चर्य की बात है, शरीर इतना क्षीण और दुर्बल होने पर भी उनका आत्मबल उद्दीप्त हो रहा था। आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत प्रकट हो रहा था। सकल्पो मे अद्भुत चमत्कारी शक्ति और दमकने लगी, आगम की भाषा मे—

हुयासणे इव भासरासी पलिच्छण्णे तवेणं तेएणं तव तेयसिरीए उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ।

जैसे राख के नीचे दबी हुई अग्नि दमकती हुई अपनी उष्णता व प्रकाश फैलाती है, उसी प्रकार गौतम अणगार तप के तेज से दीप्त हुए शोभित हो रहे थे। यही वर्णन

---

1 गुणरत्न तप का वर्णन परिशिष्ट २ मे देखें।

भगवती सूत्र में स्कन्दक अणगार व औपपातिक सूत्र में महातपस्वी धन्य अणगार का किया गया है। इनके जैसी स्थिति ही गौतम अणगार की हो गई।

शरीर की ऐसी स्थिति देखकर गौतम अणगार के मन में विचार उठा, अब मेरे शरीर की अन्तिम घड़ी नजदीक दीख रही है। देह और देही (जीव) का वियोग अब निकट दीख रहा है। मौत आ रही है, तो मैं कायर की भांति रोता-रोता नहीं रहूँ, वीर की भांति उसका स्वागत करूँ? जीवन की अन्तिम स्थिति-मृत्यु ही सम्पूर्ण साधना की कसौटी है। जीवन भर समाधि से बीता, आनन्द से बीता, अगर मृत्यु के समय मन कमजोर हो गया, दीन हो गया, मौत के डर से कांप गया तो सम्पूर्ण साधना व्यर्थ हो जाती है, समाधिपूर्वक मृत्यु ही तो जीवन का कलश है, संलेखना और संथारा—यह सम्पूर्ण जीवन की साधना का सार है। इसलिए अब मुझे मृत्यु से संघर्ष के लिए उद्यत होकर पूर्ण समाधि के साथ प्राण त्यागने चाहिये। प्राण तो छूटने वाले हैं ही, किन्तु उस समय में पूर्ण प्रसन्नता और कृतकृत्यता का अनुभव करूँ।"

गौतम अणगार यह विचार कर भगवान अरिष्टनेमि के पास आये। शरीर से अत्यन्त दुर्बल थे, क्षीण थे। शरीर में कोई शक्ति शेष न रही थी, सिर्फ जीवं जीवेण चिट्ठइ—जीव अपनी जीवनी शक्ति के सहारे ही टिका हुआ था, फिर भी भगवान को वन्दना करके अपने मनोभाव प्रगट किये। नश्वर शरीर को संलेखना संथारा करके त्यागने की भावना व्यक्त की।

भगवान का तो इच्छायोग था, शुभकार्य में जिसकी भावना बढ़ रही हो, वे उसे प्रोत्साहित कर यही कहते—जहा सुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह—हे देवानुप्रिय! जैसा सुख हो वैसा करो, विलम्ब मत करो। बस, भगवान की अनुमति मिली और गौतम अनगार

—थेरेहिं सद्धिं सत्तुंजय दुरुहइ, मासियाए संलेहणाए बारसवरिसाइं परियाए जाव सिद्धे।

स्थविर मुनियों के साथ शत्रुंजय पर गये। वहाँ एक बड़े शिलापट्ट (शिला) पर आसन लगाया। आलोचना आदि करके आत्मा को पूर्ण निःशल्य एवं निर्मल बनाकर परमात्म भाव में लीन होकर संथारा किया। यावज्जीवनपर्यन्त चारों आहार का त्यागकर—कालं अणवकंखमाणे—काल-मृत्यु की इच्छा नहीं करते हुए पूर्ण समाधि के साथ आत्म भाव में स्थिर हो गये।

अन्तिम समय में साधक जब संथारा कर लेता है तो उसके सामने मृत्यु तो निश्चित है ही, किन्तु फिर भी वह मृत्यु की भी इच्छा नहीं करता। न जीने की कामना और न मृत्यु की कामना। सब कामनाओं के बन्धन से मुक्त होकर आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है। बस, यही तो मुक्ति की साधना है। अनगार गौतम ने संथारा किया और ३० दिन में समाधिपूर्वक अनशन के साथ बारह वर्ष का दीक्षा पर्याय

ज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया और फिर आयुष्य आदि चारो कर्मों को क्षीण कर— सिद्धे बुद्धे अंत करे— सिद्ध हो गये। ज्ञानमय बन गये। जन्म-मरण का, ससार-चक्र का अन्तकर मुक्त हो गये। बारह वर्ष पूर्व सयम के जिस असिधारा व्रत को स्वीकार किया था वह व्रत, वह सकल्प पूर्ण हुआ।

गौतमकुमार अणगार का यह प्रथम अध्ययन है। वह ससार का अन्त करके मुक्त हुए इसलिए अतकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में उनका वर्णन है।

गौतम अणगार का यह जीवन हमे त्याग, तप, दैहिक अनासक्ति और वीतराग भाव की प्रेरणा देता है। पर्युषण मे इस चरित्र को सुनने और सुनाने का प्रमुख लक्ष्य यही है कि ये प्रेरणाएँ हमारे हृदय मे उतरे और हम भी अपने उन आदर्श पुरुषो का अनुगमन करने का साहस और धैर्य प्राप्त करें।

पढमं अज्झयणं सम्मत्तं।
यह प्रथम अध्ययन पूर्ण हुआ।

२

समुद्रकुमार आदि विशिष्ट साधक

बन्धुओ,

अन्तगड सूत्र के प्रथम अध्ययन में गौतमकुमार का वर्णन किया गया है। वह वर्णन काफी विस्तृत है। फिर भी शास्त्रकार ने जहाँ जहाँ संक्षेप किया वहाँ-वहाँ महाबल कुमार, मकन्द एवं मेघकुमार के वैभव, तप.साधना एवं दीक्षा महोत्सव के वर्णनों की सूचना मात्र दे दी है। इनका वर्णन भगवती सूत्र एवं ज्ञातासूत्र में आता है।

अन्तगड सूत्र के प्रथम वर्ग में और भी नौ अध्ययन हैं। जिनका वर्णन गौतम कुमार के समान ही है। ये सभी सहोदर बन्धु थे।

द्वितीय अध्ययन में समुद्र कुमार, तीसरे अध्ययन में सागर कुमार, चौथे अध्ययन में गम्भीर कुमार, पाँचवें में स्तिमित कुमार, छठे अध्ययन में अचल कुमार, सातवें अध्ययन में कम्पिल कुमार, आठवें में अक्षोभ कुमार नवें में प्रसेनजित कुमार और दसवें में विष्णु कुमार का वर्णन है।

इन सबके पिता थे अंधकवृष्णि और माता थी—धारिणी। ये सभी भाई गौतम कुमार की भाँति ही संसार से विरक्त होकर भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हुए और उग्र तपसाधना करके अन्त में मोक्ष गति प्राप्त की।

प्रथम वर्ग के दस अध्ययन समाप्त

☆

आठ भाइयों की अद्भुत साधना

धर्मप्रेमी बन्धुओ,

अन्तगड सूत्र के प्रथम वर्ग के दश अध्ययन का वर्णन आपके समक्ष किया जा चुका है। अब दूसरा वर्ग आपके सामने है। इस वर्ग में आठ सहोदर भाईयों की साधना का वर्णन है।

जिस समय भगवान अरिष्टनेमि इस पुण्यधरा पर विचर रहे थे उन दिनों द्वारिका नगरी में अंधकवृष्णि राजा थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था। उनके अठारह पुत्र थे।[1] दस पुत्रों का वर्णन पहले वर्ग में किया जा चुका है। आठ पुत्रों की तप-साधना का वर्णन द्वितीय वर्ग में है। इस वर्ग के आठ अध्ययन हैं। सभी भाइयों की साधना और जीवनचर्या का वर्णन भी समान है। सभी ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, फिर गुणरत्न संवत्सर तप की आराधना की। सोलह वर्ष तक निर्दोष संयम की पालना की। अन्त में शत्रुंजय पर्वत पर जाकर मासिक संलेखना करके समाधिपूर्वक देहत्याग कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इन आठ भाइयों के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—१ अक्षोभ कुमार, २. सागर, ३ समुद्र, ४ हिमवान्, ५ अचल, ६ धरण, ७ पूरण और ८ अभिचन्द कुमार।

अंतगड सूत्र वर्ग २ अध्ययन १ से ८ समाप्त

☐

१ गौतमादिक कुंवर सगा अठारह भ्रात।
सह सागर वृष्णिसुत धारिणी ज्यांरी मात ॥ ४५ ॥
—पूज्य जयमल्ल जी कृत बड़ी साधु वंदना

परायणा स्त्री थी। सुलसा के अणीयसेन नाम का एक परम रूपवान पुत्ररत्न था। अणीयसेन का पालन-पोषण पाँच धायो के सरक्षण मे हो रहा था। क्षीरधात्री—दूध पिलाने वाली धाय कुमार को दूध पिलाती थी, मज्जनधात्री—स्नान कराने वाली धाय थी, मण्डनधात्री—वस्त्रालकारो से सजाने वाली धाय माता थी, क्रीडनधात्री—अणीयसेन को विविध क्रीडाएँ कराती थी और अकधात्री—कुमार को अपने अक (गोद) मे धारण किये रहती थी। इस तरह पाँच धाय माताओ द्वारा पोषित-पालित अणीयसेन वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

वृद्धि को प्राप्त होते-होते अणीयसेन अथवा अनीकसेन आठ वर्ष का हो गया। यह समय घर के आँगन को छोडकर बाहर जाने का है—विद्यालय जाकर विद्याध्ययन करने का है। गाथापति नाग और सुलसा ने भी अणीयसेन को योग्य बनाने के विचार से विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेजा। मन्दबुद्धि छात्र जिस विद्या को वर्षों मे सीख पाते हैं, मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न छात्र उसी विद्या को अल्प समय मे सीख लेते हैं। अणीयसेन होनहार और प्रतिभाशाली छात्र था, अत. वह कुछ ही दिनो मे बहत्तर कलाओ मे निष्णात होकर घर आ गया।

विद्याकुशल अणीयसेन अब युवा हो गया था। युवावस्था में उसका रूप-लावण्य और भी अधिक निखर आया था। बडे-बडे धनी-मानी श्रेष्ठी अणीयसेन को अपना दामाद बनाना चाहते थे। अनेक सुन्दर सुकुमारी श्रेष्ठि-कन्याएँ अणीयसेन को अपना पति बनाने की मनौतियाँ करती थीं। गाथापति नाग भी गुणवती, रूपवती पुत्र-वधुओ से अन्त पुर की शोभा बढाना चाहता था। अत उसने अनेक श्रेष्ठियो के विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर समान वय, समान लावण्य और समान रूप-यौवन एव सुशीलता वाली यहाँ तक कि समान त्वचा वाली और अपने ही समान श्रेष्ठ कुलो वाली इभ्यसेठों की बत्तीस कन्याओ के साथ अणीयसेन का विवाह एक ही दिन मे कर दिया।

महाबलकुमार[1] के माता-पिता के समान नाग गाथापति ने भी बहुत-सा धन, रत्नादि प्रीतिदान मे दिया। अणीयसेनकुमार का विवाहित जीवन भी सुखोपभोगो मे बीतने लगा। ससार मे जितने भी सुख प्राणी भोगता है, वह सब पूर्वार्जित पुण्यो के प्रभाव से भोगता है। इसलिए पुण्य कर्मों के लिए कभी भी प्रमाद नही करना चाहिए। अणीयसेन कुमार भी अपने विलास भवन के ऊपरी खण्ड मे निरन्तर बजती हुई मृदग ध्वनि का आनन्द लेते हुए पुण्योपार्जित सुखो का भोग कर रहा था।

नाग गाथापति था। उसके ३२ पुत्र हुए। वह राजगृह मे रहने वाली थी। यह सुलसा दृढ सम्यक्त्वी थी और आगामी चौबीसी मे १५वाँ तीर्थंकर होगी। अन्तगड सूत्र वर्णित सुलसा भगवान अरिष्टनेमि-युग मे हुई। अत दोनो भिन्न है।

—सम्पादक

१ महाबलकुमार का प्रसग भगवती सूत्र शतक ११, उद्देशक ११ मे देखें।

भद्दिलपुर नगर के बाहर ईशान कोण में श्रीवन नाम का एक बड़ा ही मनोहर उद्यान था। एक बार इसी श्रीवन उद्यान में भगवान अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ। भगवान अरिष्टनेमि अपनी मर्यादानुकूल अवग्रह लेकर श्रीवन में विचरने लगे। भद्दिलपुर नगर की जनता भगवान की धर्मदेशना सुनने श्रीवन पहुँची। नगर की जनता को श्रीवन की ओर जाते देख अनीकसेन कुमार भी गौतमकुमार के समान अपने भवन से निकला और भगवान की परिषद् में बैठ धर्मकथा सुनने लगा।

सत्संग सभाओं और धर्म सभाओं में अनेक श्रोता कथा-श्रवण करते हैं, पर सभा से लौटकर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यह श्रवण 'पल्लाझाड़ श्रवण' कहलाता है, जो कुछ सुना, पल्ला झाड़कर वहीं का वहीं छोड़ दिया और मनरूपी झोली को खाली लेकर चले आए। लेकिन अनीकसेन ने जो कुछ सुना उसे सहेजकर हृदय में उतार लिया। वह भगवान अरिष्टनेमि के चरणों में पहुँचकर प्रार्थना करने लगा—भंते! मैंने आपकी वाणी सुनी है, उस पर श्रद्धा व विश्वास हुआ है कि यह कल्याण करने वाली है, इस पर मुझे प्रतीति हुई है कि इस पर आचरण करके अनेक भव्य जीवों ने भव-भ्रमण से मुक्ति पाई है। इस पर आचरण करने की मुझे रुचि-प्रीति व दिलचस्पी जागृत हुई है।[1] मैं संसार त्यागकर दीक्षा लेना चाहता हूँ। प्रभु ने कहा—अहासुहं जैसा सुख हो वैसा करो। अनीकसेन प्रभु के समवसरण से उठकर घर पहुँचा और माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। जिसे बत्तीस नारियों का सुखद आकर्षण और सुखोपभोग दीक्षा से विमुख नहीं कर सके, उसे माता-पिता का मोह भला कैसे रोकता? नागगाथापति व सुलसा ने अनीकसेन को दीक्षा की अनुमति दे दी और कुमार अनीकसेन ने प्रभुचरणों में संयम ग्रहण कर लिया।

अनीकसेन ने गौतमकुमार[2] की भाँति ही निर्दोष संयम का पालन किया। गौतमकुमार ने बारह वर्ष तक संयम का पालन किया और सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, जबकि अनीकसेनकुमार ने सामायिक आदि चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया और फिर शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है—सुलसा तथा नागगाथापति नाग के पाँच पुत्र और थे—अनन्तसेन, अजितसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। ये पाँचों अनीक-सेन के सहोदर थे। इन्होंने भी ज्येष्ठ भ्राता अनीकसेन के समान भगवान अरिष्टनेमि का शिष्यत्व ग्रहण किया था और शत्रुंजय पर्वत पर मुक्ति प्राप्त की थी। इन पाँचों ने भी बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया, चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और एक महीने की संलेखना करके शत्रुंजय गिरि पर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

---

१ सद्दहामि णं भंते! पत्तियामि णं भंते! रोएमि णं भंते!

२ प्रथम कथा पेज ६७ पर देखें।

भगवान् अरिष्टनेमि के अणीयसेन, अनन्तसेन, अजितसेन, अनहितरिपु, देवसेन और शत्रुसेन—ये छहो शिष्य सहोदर भाई थे ।[1] छहो समान आकार, समान रूप और समान वय वाले थे । उनके शरीर की कान्ति नीलकमल अथवा भैंस के सींग के भीतरी भाग या अलसी के फूल के समान नीलाभ और गुली के रग के समान थी । उनका वक्ष 'श्रीवत्स' चिह्न से शोभित था । उनके बाल फूल-से कोमल और घुंघराले थे । ये छहो भाई नलकूवर (अत्यत सुन्दर देवकुमार) के समान सौन्दर्यशाली थे ।

इन छहो भाइयो ने ससार के सभी ऐश्वर्य और भोगो का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कठिन दीक्षा पर्याय का पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

[अतगड सूत्र के तीसरे वर्ग के ये क्रमश. १, २, ३, ४, ५, और ६ अध्ययन-पूर्ण हुए ।]

□

---

१ श्रीअनीक सेनादिक, छये सहोदर भाय ।
वसुदेवना नन्दन देवकी ज्यारी माय ।
भद्दिलपुर नगरी नाग गाहावई जाण ।
सुलसा घर वधिया, सांभली नेमिनी वाण ।५८।
तजी बत्तीस-बत्तीस अन्तेउर निकलिया छिटकाय ।
नलकूवर समाना भेट्या श्रीनेमिना पाय ।५९।
करी छठ-छठ पारणा, मन में वैराग्य लाय ।
एक मास संथारे मुक्ति बिराज्या जाय ।६०।
—आचार्य श्री जयमल्ल जी कृत बड़ी साधु वन्दना ।

५

सारणकुमार

बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी, स्वर्गलोक के समान सुन्दर द्वारका नगरी में वसुदेव नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था। एक बार रानी धारिणी ने सिंह का स्वप्न देखा। यह स्वप्न एक सदाचारी और शुभ विचार वाले पुत्र के जन्म लेने का सूचक था। स्वप्न के शुभ फल से वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए।

यथासमय रानी धारिणी ने गर्भधारण किया और गर्भकाल पूरा होने के बाद एक सुन्दर पुत्र रत्न को जन्म दिया। नृपति वसुदेव ने बालक का नाम सारण कुमार रखा। सभी सुख-सुविधाओं में पलकर जब कुमार अध्ययन योग्य हुआ तो उसे कलाचार्य के पास भेजा गया। तीव्रबुद्धि सारणकुमार थोड़े ही समय में बहत्तर कलाओं में पूर्ण पारंगत हो गया।

जब सारणकुमार युवा हुआ तो उसका विवाह कर दिया गया। विवाह के बाद सारणकुमार ने एक दिन भगवान अरिष्टनेमि का उपदेश सुना तो उसे संसार से विरक्ति हो गई और उसने माता-पिता की आज्ञा से दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेने के बाद सारणकुमार ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया। तदनन्तर गौतमकुमार की भांति शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और घाति एवं अघाति कर्मों का क्षयकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

अन्तगड सूत्र, वर्ग ३ । अध्ययन ७

६

देहाध्यास से मुक्त, समभावी साधक : गजसुकुमार

बन्धुओ !

पर्युषण के दिनों में हमें समत्व की विशिष्ट साधना करनी है। देहभावना से मुक्त होकर देहातीत भाव में रमण करना है। समता की भावना को प्रखर करने के लिए आज आपके सामने गजसुकुमार का वर्णन किया जाता है।

कहा जाता है कि द्वारका नगरी का निर्माण स्वयं धनपति कुबेर ने किया था। यह नगरी स्वर्ग के सदृश सौन्दर्यशालिनी थी। बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी—एक सौ आठ वर्ग योजन क्षेत्रफल की इस द्वारका नगरी का परकोटा स्वर्ण का था, उसके कँगूरे पाँच वर्ण के रत्नों से जड़े थे। द्वारका नगरी दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप थी। इसके उत्तर-पूर्व दिशा-भाग में रैवत पर्वत था, उस पर्वत पर श्याममेघों की सी सघन छायावाली वृक्षश्री से युक्त अत्यन्त शोभावाला 'नन्दनवन' नामक विशाल उद्यान था। इस नन्दनवन में एक यक्षायतन था। इस नन्दनवन के मध्य भाग में एक अशोक वृक्ष था। इसी अशोक वृक्ष के नीचे भगवान अरिष्टनेमि ने अपनी धर्म-सभाएँ जोड़कर अमरता का सन्देश दिया था।

इसी द्वारिका नगरी में तीन खण्डों के शासक महासम्राट वासुदेव श्रीकृष्ण धर्मपूर्वक राज्य कर रहे थे। वासुदेव श्रीकृष्ण मात्र राजा नहीं थे, बल्कि लोक नायक भी थे। राजा केवल जनता पर शासन करता है, जबकि लोकनायक जन-जन के हृदय पर शासन करता है। उन्होंने प्रजाधर्म और राजधर्म की स्थापना के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया था।

वासुदेव कृष्ण जैसे विनम्र, सर्वप्रिय, सुन्दर-सुशील पुत्र को पाकर माता देवकी, पिता वसुदेव तथा बलराम भाई अपने को धन्य और भाग्यशाली समझते थे।

छह अनगार

ज्ञानी-अज्ञानी—हर संसारी जन्म, जीवन और मरण—इन तीनों अवस्थाओं में से गुजरता है। अज्ञानी सोचता है कि जन्म और मरण दुःखमय है, जीवन सुखमय है, इसलिए वह जीवन का संरक्षण करता है, जीवन के वियोग की कल्पना से भी दुःखी

सघाडो—दो-दो की तीन टोलियो मे विभक्त होकर मुनियो के कल्प के अनुसार सामुदायिक भिक्षा के लिए द्वारका नगरी मे जावें।"

भगवान ने सहज रूप से अनुज्ञा प्रदान की—

"देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो।"

भगवान् की अनुज्ञा प्राप्त कर छहो अनगार प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर सहस्राम्रवन[1] अथवा नन्दनवन से बाहर निकले और दो-दो के तीन सघाडो (टोलियो) मे द्वारका नगरी मे प्रविष्ट हुए। उनकी गति अथवा चाल गज जैसी धीमी थी। उनके चलने मे न तो शीघ्रता थी, चपलता और लाभालाभ की चिन्ता भी नही थी तथा किसी प्रकार का उद्वेग भी नही था। असभतो अमुच्छिओ—असंभ्रात और अमूर्च्छाभाव (अनासक्तवृत्ति) के साथ गमन करना उनका आदर्श था। इसी वृत्ति से चलते हुए—दो-दो मुनियो के तीनो सघाडे द्वारका नगरी के ऊँच-नीच, मध्यम कुलो मे उच्चणीय मज्झिमाइ कुलाइ—गृह सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमने लगे। भिक्षा के लिए विचरण करती हुई एक टोली महाराज वसुदेव और महारानी देवकी के महलो मे पहुँची। मुनियो के सघाडे को अपने यहाँ आते देखकर महारानी देवकी अत्यन्त आनन्दित हुई हट्ठ तुट्ठ चित्तमाणदिया पीईमणा परम सोमणस्सिया—उसके मन मे परम प्रीति उत्पन्न हुई, उसका हृदय कमल विकसित हो गया, तुरत वह—अपने आसन से उठी, और सात-आठ कदम उनके सामने गई और दोनो मुनियो को वदना-नमस्कार कर अपने को धन्य मानते हुए हर्ष-विह्वल होकर बोली—

"आज मै धन्य हुई, जो मेरे घर अनगार पधारे।" यह कह महारानी देवकी भक्ति-विभोर होकर मुनियो को पुन. पुन. वन्दन-नमस्कार करने लगी और तदनन्तर उन्हें रसोईघर मे ले गई। रानी देवकी ने चौरासी प्रकार की विशिष्ट पौष्टिक वस्तुएँ मिलाकर कृष्ण वासुदेव के लिए 'सिह केसरी मोदक' तैयार किये थे। वही अति पौष्टिक-अति स्वादिष्ट सिह केसरी मोदक महारानी देवकी ने दोनों मुनियो को वहराये। भिक्षा प्राप्त कर दो मुनियो का सघाडा चला गया।

उनके जाने के कुछ ही देर बाद दूसरा सघाडा भी गरीब-अमीर, महल-झोपडी मे घूमता हुआ देवकी महारानी के घर पर आया। इन दोनो अनगारो को भी देवकी महारानी ने पूर्ववत् वन्दन-नमस्कार कर 'सिह केसरी' मोदक वहराये। जब ये भी चले गए तो दो मुनियों की तीसरी टोली भी देवकी के यहाँ आई। इस तीसरी टोली के अनगारो को भी देवकी महारानी ने बहुमानपूर्वक मोदक वहराये। तीसरी टोली के अनगारो को देखकर देवकी रानी के मन मे शका और आश्चर्य की लहरें उठने लगी। अपने मन के भावो को प्रकट करते हुए महारानी देवकी ने विनययुक्त वाणी मे कहा—

---

1 नन्दनवन मे एक हजार आम्रवृक्ष होने से यही सहस्राम्रवन कहलाता था।

"भगवन् ! मुझे बड़ा खेद है कि कृष्ण वासुदेव जैसे महाप्रतापी राजा की बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी अलका सदृश द्वारका नगरी के ऊँच-नीच और मध्यम कुलों में सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमते हुए श्रमण-निर्ग्रन्थों को—भिक्खा-यरियाए अडमाणा भत्तपाणं नो लभंति—आहार-पानी नहीं मिलता ? इसलिए श्रमण-निर्ग्रन्थों को एक ही कुल में बार-बार आना पड़ता है ?"

देवकी की बात सुनकर अनगार बोले—

"देवानुप्रिये ! द्वारका में श्रमण-निर्ग्रन्थों को आहार-पानी नहीं मिलता, इसलिए उन्हें एक ही कुल में बार-बार आना पड़ता है, ऐसी बात नहीं है। हम दोनों आपके यहाँ पहली बार, अर्थात् एक ही बार आये हैं। हमसे पहले जो दो मुनियों का संघाड़ा आया था, वे हम नहीं हैं। पहली बार जो दो मुनियों की टोली आई थी, वह पहली ही टोली थी, दूसरी बार के अनगार पहले वाले नहीं थे।

"देवानुप्रिये ! हमारे रूप, वय, आकार आदि की समानता के कारण ही तुम्हें यह भ्रान्ति हुई है। हम छहों अनगार दो दो के तीन संघाड़ों में द्वारका नगरी के गरीब-अमीर, महल-झोंपड़ी में घूमते हुए एक-एक संघाड़े के रूप में तीन बार तुम्हारे यहाँ आये हैं।"

इसी अनगारों ने देवकी की बढ़ी हुई जिज्ञासा को जानकर अपना परिचय देना शुरू किया—

"देवानुप्रिये ! हम भद्दिलपुर निवासी गाथापति नाग के पुत्र हैं तथा सुलसा हमारी माता है। हम छहों सहोदर भाई रूप-लावण्य में समान हैं। भगवान् अरिष्ट-नेमि से धर्म सुनकर हम संसार के भय से उद्विग्न हुये। जन्म-मरण की तरह यह जीवन भी हमें कारागार की तरह दुःखद लगने लगा, सो हमने प्रभुचरणों में दीक्षा ले ली। प्रव्रज्या के प्रथम दिन से ही हमने भगवान की आज्ञा से यावज्जीवन बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा की है। आज हम सबके बेले का पारणा है। हमने पहले प्रहर में स्वाध्याय किया, दूसरे में ध्यान किया और अब भगवान की आज्ञा से तीसरे प्रहर में हम छहों सहोदर-अनगार तीन संघाड़ों से भिक्षा के लिए निकले। द्वारका नगरी के ऊँच-नीच, मध्यम कुलों में सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमते हुए यथोचित हम तीनों संघाड़े तुम्हारे घर आ गये हैं। इसलिये हे देवानुप्रिये ! हम वे मुनि नहीं हैं, जो पहले आये थे। सबसे पहले जो मुनि आये थे, वे भी दूसरे थे और बीच के दूसरे संघाड़े में जो मुनि आये थे, वे भी दूसरे थे और तीसरे संघाड़े के जो हम आये हैं, सो हम भी दूसरे हैं।"

इस प्रकार देवकी के मन की शंका का समाधान करके वे अनगार जिधर से आये थे, उधर ही चले गये। देवकी महारानी के मन की एक शंका दूर हुई तो एक दूसरी शंका, आश्चर्य और विचार से उसका मन भर गया। नल-कूबर के समान सुन्दर आकर्षक, मनोरम कान्ति वाले रूप में एक-आकृति के छह सहोदर-अनगारों को देखकर

देवकी को अपने बचपन की एक घटना उद्वेलित करने लगी। देवकी सोच रही थी—
एवं खलु अहं पोलासपुरे णयरे अइमुत्तेणं कुमार समणेण बालत्तणे वागरिया—

"जब मैं छोटी थी, तब पोलासपुर नगर मे अतिमुक्त अनगार ने मुझसे कहा था कि देवकी ! तू आठ पुत्रो को जन्म देगी। तेरे सभी पुत्र रूप, वय, आकृति और कान्ति मे समान होंगे। वे सभी नल-कूबर के समान सुन्दर होंगे। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र मे तेरे सिवा कोई दूसरी ऐसी माता नहीं होगी जो ऐसे सुन्दर और समान पुत्रों को जन्म दे।"

देवकी सोचने लगी—

"मुनियो की वाणी असत्य नही होती, पर मुनि अतिमुक्तक का कथन तो आज मिथ्या प्रतीत होता है। मैंने तो प्रत्यक्षत अपनी आँखो से आज देखा है कि इस भरत-क्षेत्र मे किसी दूसरी माता—सुलसा ने नल-कूबर के समान सुन्दर तथा एक से रूप वाले छह पुत्रो को जन्म दिया है। मुनि अतिमुक्तक के वचन असत्य तो होने नही चाहिये। अत यही उचित है कि मैं भगवान अरिष्टनेमि से पूछूँ कि ऐसा क्योकर हुआ ?"

रहस्य खुला

कभी-कभी जो दीखता है, वह सत्य नही होता और जो सत्य होता है, वह दिखाई नही देता। जो सत्य था उसे महारानी देवकी देख नही पा रही थीं और जो वे प्रत्यक्षत देख रही थी वह सत्य नही था। सत्य घटना की गहराई मे छिपा था। उसका उद्घाटन ज्ञानी के सिवाय और कौन कर पाते ? अत महारानी देवकी ने भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुँचने के विचार से सेवको को अपना धर्मरथ तैयार करने की आज्ञा दी। सेवको ने धर्मरथ तैयार किया देवकी देवी भगवान् महावीर की माता देवानन्दा के समान रथारूढ होकर भगवान् अरिष्टनेमि के समीप पहुँचीं और प्रभु को वन्दन-नमस्कार करके पर्युपासना करने लगीं।

तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होते हैं। वे घट-घट की बात जानते हैं। जब देवकी उनके निकट समुपस्थित हुईं तो अन्तर्यामी प्रभु नेमिनाथ ने उनके मन की दुविधा को जान लिया। वे स्मितमुखी देवकी देवी से कहने लगे—

"हे देवकी ! आज तूने समान रूप, वय, आकृति और नल-कूबर की-सी शोभा वाले छह अनगारो को देखकर सोचा है कि जब मैं बालक थी, तब पोलासपुर नगर मे मुनि अतिमुक्तक ने मुझसे कहा था कि तू ऐसे ही नल-कूबर के समान सुन्दर समान रूप, वय, आकृति वाले आठ पुत्रो की माता होगी। इस भरत-क्षेत्र मे तेरे समान कोई दूसरी माता ऐसे पुत्रों को जन्म नहीं देगी। सो देवकी ! तेरे मन मे यह शंका है कि इस भरत-क्षेत्र में किसी दूसरी माता—भद्दिलपुर निवासिनी सुलसा ऐसे ही पुत्रों की माता क्यों है ? अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी तुझ पर घटित न होकर सुलसा पर घटित हुई। देवकी ! क्या यह सच है ?"

उमड आया । देवकी की कचुकी भीग गई । माता का वात्सल्य द्रवित होकर बहने लगा । देवकी अपने पुत्रो को देखकर सुध-बुध खो बैठी । जब उसे कुछ चेतना आई तो हर्ष के मारे उसे रोमांच हो आया, उसका तन हर्ष से फूल उठा, कचुकी के बधन टूट गए, देह के आभूषण कसकर तग हो गए । देवकी बहुत देर तक नलकूवर के समान सुन्दर छहो अनगारो को एकटक देखती रही ।

आखिर देवकी को पुत्रमोह पर विजय पानी ही थी । उसके पुत्रो ने मुनिपथ अपनाकर वीतराग साधना प्रारम्भ जो की थी । उसके छहो पुत्रों ने उसके मातृत्व को धन्य कर दिया था । काफी देर तक पुत्रो को देखने के बाद देवकी ने छहों अनगारो को वन्दन-नमस्कार किया और पुन अशोक वृक्ष के नीचे बैठे भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुँची । उसके बाद उसने भगवान को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और फिर धर्मरथ पर आरुढ होकर द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपनी बैठक के निकट रथ को रुकवाया । रथ से उतरकर देवकी अपने भवन में गई और कोमल शय्या पर बैठ विचारो मे डूब गई ।

पुत्र-कामना

इस घटना से देवकी के मन मे अनेक प्रकार के विकल्प उठने लगे । चिन्ता-मग्न हो देवकी सोचने लगी ।

'आकृति, वय और देह कान्ति मे एक जैसे नलकूवर के समान सौन्दर्यशाली मैंने सातपुत्रो को जन्म दिया । सात बार प्रसव पीडा सही, पर 'पुत्रवती' होकर भी मैं 'शिशुमती' न हो सकी । मैंने किसी पुत्र को शिशुरूप मे गोद नही खिलाया, बाल-क्रीडा का सुख नही उठाया । यह कृष्ण भी राज-काज मे इतना व्यस्त रहता है कि चरणवन्दन के लिए मेरे पास छह छह महीने बाद आता है ।"

देवकी शिशुमती माताओ के भाग्य की सराहना करते हुए विचार करने लगी—

"वास्तव मे वे माताएँ धन्य हैं—भाग्यशालिनी है, जिनकी कोख से उत्पन्न शिशु स्तनपान करने के लिए अपनी मनोहर तोतली बोली में माँ का मन मोह लेते हैं और 'मम्मण' शब्द करते हुए स्तनमूल से लेकर काँख तक के भाग मे अभिसरण करते रहते हैं और वे भोले बालक अपनी माँ के द्वारा कमल के समान कोमल हाथो से उठा-कर गोद मे बिठाये जाने पर अपनी माँ से तुतले शब्दो मे बातें करते हैं और मीठी बोली बोलते हैं ।"

फिर देवकी ने अपनी ओर देखा । अपने हीन भाग्य पर पश्चात्ताप करते हुए देवकी ने विचार किया—

"सात-सात पुत्रों की माँ होकर भी मैं कितनी अधन्य और अपुण्य हूँ कि मैं अपने पुत्रो—शिशुओ की बाल क्रीडा के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकी ।"

इस प्रकार चिन्ता विचार मे घिरी देवकी आर्तध्यान करने लगी । देवकी चिन्ता

में डूबी थी, तभी वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर वासुदेव श्रीकृष्ण माता देवकी की चरणवन्दना करने आये। उन्होंने माता के चरणों की वन्दना की और माँ की खिन्न मुख-मुद्रा देखी तो स्वयं भी चिन्तित हुए। वासुदेव श्री कृष्ण ने विनम्रतापूर्वक देवकी महारानी से पूछा—

"हे माता! जब मैं पहले तुम्हारे चरणों की वन्दना करने आता था तो मुझे देखकर तुम्हारा हृदय आनन्दातिरेक से पुलकित हो जाता था। आज मैं तुम्हें म्लान-मुख देख रहा हूँ। हे माता! तुम्हारी इस उदासी का क्या कारण है?"

जब मन की बात कोई पूछने वाला हो तो दुःखी प्राणी मन की बात कहकर अपना बोझ हल्का कर लेता है। महाप्रतापी और सामर्थ्यवान् वासुदेव श्रीकृष्ण देवकी रानी का दुःख पूछ रहे हैं। वे माताएँ धन्य हैं, जिनके कृष्ण जैसे सुपुत्र हैं, जो अपनी माँ का दुःख नहीं देख सकते। ऐसे सुपुत्र माँ का दुःख केवल जानना ही नहीं चाहते, बल्कि उसे दूर करने का प्रयत्न भी करते हैं। कृष्ण ने सोचा, मेरी माँ को ऐसा कौन-सा दुःख हो सकता है, जिसे मैं दूर नहीं कर सकता। दूसरे, उन्हें इसका आश्चर्य भी था कि मेरी माँ को संसार के सभी सुख सुलभ हैं, फिर यह क्यों दुःखी है। कृष्ण के पूछने पर देवकी देवी ने मन की बात कृष्ण से कही—

"हे पुत्र! मैंने आकृति, रूप, वय और देहकान्ति से एक-जैसे नल-कूबर के समान सुन्दर सात पुत्रों को जन्म दिया है। मैं पुत्रवती होकर भी कभी शिशुवती नहीं हुई। एक भी पुत्र की शिशु-क्रीड़ा के आनन्द का अनुभव मैंने नहीं किया। हे कृष्ण! तू भी मेरे पास छह-छह महीने बाद चरण वन्दन को आता है। मैं तो अधन्य, और अकृतपुण्य हूँ, जो मेरा भाग्य ऐसा है। वास्तव में वे ही माताएँ धन्य और पुण्यशाली हैं, जो अपनी सन्तान की बाल-क्रीड़ा के आनन्द का अनुभव करती हैं। हे पुत्र! इसी दुःख से मैं आर्त्तध्यान कर रही हूँ।"

श्री कृष्णचन्द्र ने माता देवकी को सान्त्वना दी—

"हे माता! अब तुम आर्त्तध्यान मत करो। मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे मेरे एक छोटा सहोदर भाई उत्पन्न हो।"

इस प्रकार वासुदेव कृष्ण ने देवकी को धैर्य बँधाया और फिर वे अपने आवासगृह—पौषधशाला में गए, और अभयकुमार की तरह अष्टमभक्त करके सन्मान-प्रदाता देव हरिणैगमेषी की आराधना करने लगे। कृष्ण की आराधना से हरिणैगमेषी देव प्रसन्न हुआ और प्रकट होकर कृष्ण से बोला—

"हे देवानुप्रिय! आपका अभिमत मनोरथ क्या है? मैं आपकी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ?"

देव हरिणैगमेषी को प्रसन्न देख कृष्ण वासुदेव ने दोनों हाथ जोड़, देव से कहा—

"हे देव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी इस इच्छा को पूरा कीजिए कि मेरे एक सहोदर लघु भ्राता का जन्म हो।" "सहोयरं कणीयसं भाउयं विदिण्णं।"

देव ने कहा—"हे देवानुप्रिय ! देवलोक का एक देव देवायुष्य पूर्ण करके तुम्हारा सहोदर लघु भ्राता होकर जन्म लेगा। अपनी बाल-क्रीडाओं से अपनी माता और ज्येष्ठ बन्धु आदि सबको आनन्द प्रदान करेगा। उसके बाद युवावस्था को प्राप्त होते ही वह भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करेगा।"

दो-तीन बार ऐसा आश्वासन देकर हरिणैगमेषी नामक देव अन्तर्धान हो गया। महापुरुष भविष्य के दुःख से नहीं घबराते, बल्कि वर्तमान के सुख को प्राप्त कर सुखी होते हैं। **वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणा** —वे वर्तमान को ही प्राथमिकता देते हैं। यही बात श्रीकृष्ण ने अपने भावी लघु भ्राता के विषय में सोची। वे दीक्षा की बात बताकर माँ को दुखी करना नहीं चाहते थे, क्योंकि देवकी की इच्छा तो पुत्र की शिशु-क्रीडा का आनन्द अनुभव करने की थी। सो यह इच्छा देव के कथनानुसार पूरी हो रही थी। ऐसा विचार कर कृष्ण उपासनागृह से निकल कर माँ के पास आये और माँ देवकी को सुख देने वाली सूचना देते हुए बोले—

"हे माता ! अब आप चिन्ता को त्यागिए। मेरे एक सहोदर लघु भ्राता होगा। आपकी इच्छा पूर्ण होगी।"

इस प्रकार माता को संतोष प्रदान कर कृष्ण अपने स्थान को चले गए।

गजसुकुमार का जन्म

कुछ समय बीत गया। कृष्ण वासुदेव की माता महारानी देवकी एक रात सुख-शय्या पर सोई हुई थी। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने सिंह का स्वप्न देखा। स्वप्न देखते ही उनकी नींद उचट गई। शय्या त्यागकर वे महाराज वसुदेव के पास आईं और अपना स्वप्न उन्हें सुनाया। वसुदेव ने बताया कि यह बहुत ही शुभ स्वप्न है। सबको आनन्द देने वाला एक पुत्र तुम्हारी कोख से जन्म लेगा। स्वप्न का ऐसा शुभ और मनोरथ पूर्ण करने वाला फल जानकर देवकी बहुत प्रसन्न हुईं। कालान्तर में देवकी गर्भवती हुईं। वे सुखपूर्वक अपने गर्भ का पालन करने लगीं। धीरे-धीरे देवकी का गर्भकाल पूरा हुआ। इस प्रकार गर्भकाल के नौ महीने साढ़े सात दिन पूरे होने पर देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया। यह नवजात पुत्र जपाकुसुम, बन्धक पुष्प, लाक्षारस, पारिजात तथा उदयकालीन सूर्य के समान स्वर्णिम प्रभा वाला और सभी के नेत्रों को सुख देने वाला था। यह बालक अत्यन्त सुकुमार और गज अथवा हाथी के तालु के समान सुकोमल था, इसलिए महाराज वसुदेव ने इस बालक का नाम 'गजसुकुमाल' रखा। कोई-कोई उसे 'गजसुकुमार' भी कहते थे। इस तरह कृष्ण का यह सहोदर लघुभ्राता 'गजसुकुमार' अथवा 'गजसुकुमाल' इन्हीं दो नामों से प्रसिद्ध हुआ। महाराज वसुदेव ने गजसुकुमार का जन्मोत्सव बड़े आडम्बर से मनाया। एक बार तो पूरी द्वारका नगरी नववधू-सी सज गई।

कृष्ण के सेवकों ने आदेश अनुसरण किया। वासुदेव के सेवकों का प्रस्ताव सुनकर सोमिल को कल्पनातीत प्रसन्नता हुई। महासम्राट् वासुदेव श्रीकृष्ण के लघु-भ्राता सोमिल के जामाता बनें, यह संवाद अप्रत्याशित प्रसन्नता का था। सोमिल ने कृष्ण वासुदेव का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। कृष्ण के सेवकों ने सोमा को ले जाकर कन्याओं के अन्त पुर मे रख दिया और महाराज कृष्ण को इसकी सूचना दे दी। इसके बाद कृष्ण वासुदेव गजसुकुमार सहित सहस्राम्रवन अथवा नन्दनवन पहुचे। दोनो भाइयो ने भगवान को वन्दन-नमस्कार किया और प्रभु की पर्युपासना करने लगे। भगवान ने विशाल परिषद को धर्मोपदेश दिया। प्रभु का उपदेश सुनकर कृष्ण वासुदेव तो अपने भवन को चले गए, किन्तु गजसुकुमार प्रभु के पास ही बैठा रहा।

होनहार की गति बडी विचित्र है। श्री कृष्ण गजसुकुमार के विवाह के लिए रास्ता चलते कन्या ढूंढते हैं, रिश्ता तय करते है और कन्याओ के अन्त पुर मे उसे रखवा देते हैं। उन्हें क्या पता था कि अपने जिस अनुज के लिए मैं सोमिल से उसकी कन्या की रास्ता चलते याचना कर रहा हूँ, वही गजसुकुमार इन रेशमी बन्धनो को पैरो मे पड़ने का अवसर ही न आने देगा। जब गजसुकुमार अपने अग्रज कृष्ण के साथ लौट-कर वापस नही आया और प्रभु के पास ही बैठा रहा, तब वह भी जानता था कि भैया ने मेरे लिए अनिन्द्य सुन्दरी वधू का चयन कर लिया है। भगवान का उपदेश सुनकर उसे अपना यह जीवन कांटो की सेज लगने लगा और राजसी ठाट-बाट, महल, खजाने सब कारागार लगने लगे। गजसुकुमार के मन मे वैराग्य का सागर हिलोरें लेने लगा। बादल सब जगह समान रूप से जल बरसाते हैं, पर वही जल धतूरे के बीज में पड़कर विष का वृक्ष उपजाता है और गुलाब के पौधे को सींच कर सुगन्ध की सृष्टि करता है। भगवान अरिष्टनेमि ने भी सबको समान रूप से धर्मोपदेश दिया था, पर सब पर अलग-अलग प्रभाव था। हरेक के संस्कार भिन्न थे, हरेक पर पड़ा प्रभाव भी भिन्न था। देखिए—अभी-अभी जिस राजपुत्र की रास्ता चलते विवाह की तैयारियाँ हो रही थी, वही वैराग्य पूरित गजसुकुमार भगवान से कहता है—

"प्रभो! मैं अपने माता-पिता से पूछकर आपके पास दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

मेघकुमार[1] के समान गजसुकुमार भगवान के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट कर घर आया और पिता वसुदेव तथा माता देवकी के समक्ष दीक्षा की बात कही। गजसुकुमार के मुख से ऐसी अनचाही और अनसोची अभिलाषा सुनकर माता-पिता स्तम्भित रह गये। उसे समझाने लगे—

'हे पुत्र! तुम्हारी उम्र अभी दीक्षा ग्रहण करने की नहीं है। तुम हमें बहुत इष्ट और प्रिय हो। तुम्हारा वियोग हम नही सह पायेंगे। अभी तो तुमने यौवन की दहली पर पैर रखा है। अभी तुम्हारा विवाह भी नही हुआ है। पहले तुम विवाह

१ ज्ञातासूत्र अध्ययन १

गम्भीर हो गया। इधर 'मौन स्वीकृतिलक्षणम्' का विचार कर कृष्ण ने बड़े समारोह के साथ गजसुकुमार का राज्याभिषेक किया। गजसुकुमार द्वारकाधीश बनकर राजसिंहासन पर आसीन हो गया। छोटे-बड़े अन्य राजा द्वारकाधीश गजसुकुमार को भेंट-उपहार देने लगे। स्वर्ण सिंहासन पर द्वारकेश गजसुकुमार को देखकर माता-पिता तथा बड़े भाई श्रीकृष्ण बड़े आनन्दित हुए।

मधुमक्खी जब फूल की ओर जाती है तो भिन्-भिन् करते हुए जाती है और जब फूल पर बैठ जाती है तो भिनभिनाना बन्द करके चुपचाप पुष्परस का पान करने लगती है। भोग-रस मे डूबकर सभी बड़बड़ाना दूर कर देते हैं। गजसुकुमार को देखकर भी ऐसा ही लग रहा था। भोगो से दूर रहकर वैराग्य धारण करने की भिन्-भिन् सभी करते हैं, पर जब भोगो मे फँस जाते हैं तो मौन हो जाते हैं। जब गजसुकुमार से एक दिन के लिए राजमुकुट धारण करने का अनुरोध किया गया तो वह मौन रहा और अब स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान होकर भी मौन है। देवकी-वसुदेव और श्रीकृष्ण सभवत यही सोच रहे थे कि अब यह दीक्षा की बात नही करेगा, क्योकि अभी तक राजसिंहासन से दूर था, अब तो महासम्राट बना बैठा है। राजसिंहासन पर विराजमान सम्राट गजसुकुमार से पूछा गया—

"महाराजाधिराज! कहिए, अब हमारे लिए क्या आज्ञा है?"

नये राजा से ऐसा निवेदन कर सब-के-सब सोच रहे थे कि नये राजा कुछ नई राज्य व्यवस्था बतायेंगे। राज्य मे कुछ नये निर्माण का आदेश देंगे, पर द्वारकाधीश गजसुकुमार ने एक विचित्र ही आदेश दिया—

"मेरे लिए दीक्षा की तैयारियाँ करो।" सबकी आशाओ पर पानी फिर गया। यह अन्तिम अस्त्र भी विफल हो गया। गजराज को कच्चे धागे से कौन बाँध पाया है। वासुदेव कृष्ण ने सोचा, इनका वैराग्य पक्का है, प्रलोभनो से यह दबने वाला नही। इसे रोकना व्यर्थ है, यह सोचकर भाई की दीक्षा का प्रबन्ध किया। गजसुकुमार महाबल के समान दीक्षा अंगीकार कर अनगार बन गए और ईर्यासमिति आदि मे युक्त होकर सभी इन्द्रियों को अपने वश मे करके गुप्त ब्रह्मचारी बन गए।

परम्परागत कथाओ मे कहा गया है—दीक्षा लेते समय माता देवकी ने अपने प्यारे पुत्र से कहा—"बेटा, जिस प्रकार तू मुझे पुत्र-विरह की व्यथा से दुखी बना रहा है, वैसे फिर कभी किसी माता को दुखी मत बनाना। माता के इस कथन को गजसुकुमार ने हृदयगम कर लिया—मैं अब ऐसी उग्र और कठोर साधना करूँगा कि मुझे दूसरा जन्म ही न लेना पड़े अर्थात् इसी जन्म मे मोक्ष प्राप्ति कर लूँगा, तभी माता का आशीर्वाद सफल होगा। यही सकल्प उनके मन में पत्थर-सा दृढ हो गया।

गजसुकुमार जिस दिन प्रव्रजित हुए थे, उसी दिन, दिन के चौथे प्रहर भगवान

लाने के लिए द्वारका नगरी से बाहर निकला। समिधा, दर्भ-कुश आदि लेकर वह महाकाल श्मशान से लौटकर घर आ रहा था। सध्या रात्रि मे बदलती जा रही थी। दिशाएँ धूमिल होने लग गई थीं। सोमिल ने ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमार को देखा तो उसका पूर्वभव का वैर जाग्रत हो गया। इस पूर्वभव के वैरोदय मे उसकी पुत्री सोमा निमित्त कारण बन गई थी, क्योंकि सोमा गजसुकुमार की मगेतर थी और गजसुकुमार सोमिल विप्र की कन्या सोमा को अनव्याही छोड़कर दीक्षित हो गया था। ध्यानस्थ गजसुकुमार को देख सोमिल विप्र इस प्रकार बड़बड़ाने लगा—

"अरे! यह वही निर्लज्ज और मृत्यु को चाहने वाला गजसुकुमार है। यह पुण्यहीन और दुर्लक्षणो से युक्त है। मेरी भार्या सोमश्री की अगजात एव मेरी निर्दोष पुत्री सोमा, जो यौवनावस्था को प्राप्त है, उसको अकारण ही छोड़कर यह साधु बन गया है। मेरी पुत्री के सुख एव सौभाग्य का मधुवन इसने उजाड़ दिया है।"

इस प्रकार बड़बड़ाते-बड़बड़ाते सोमिल का पूर्व वैर उग्रतम होने लगा। उसने संकल्पात्मक विचार किया—

"अब तो यही उचित है कि मैं इससे अपने वैर का बदला लूँ। इस दुष्ट अपराधी को कड़ी सजा दूँ ताकि अपने वैर का बदला ले सकूँ।

यह निश्चय कर उसने चारो ओर देखा कि कोई आता-जाता तो नही है। कोई देख तो नही रहा है, पाप और अन्याय सदा एकान्त चाहता है। हाँ तो, सोमिल भी चोर की भाँति चारो ओर देखने लगा, जब देखा कि दूर-दूर तक कही मनुष्य की छाया भी नही है, तो वह निकट के तालाब से गीली मिट्टी लाया और गजसुकुमार के सिर के चारो ओर मिट्टी की पाल बाँध दी। उसके बाद वह एक जलती हुई चिता के पास पहुँचा और वहाँ से फूले हुए (लाल) टेसू के समान खैर की लकड़ी के दहकते लाल-लाल अगारो को एक ठीकरे मे भर कर ले आया और उन दहकते अगारों को मुनि गजसुकुमार के सिर पर रख दिया। यह घोर अत्याचार करते उस पापी का हाथ भी नही काँपा। अपना कार्य पूर्ण करके 'मुझे कोई देख न ले' इस भय से इधर-उधर देखता हुआ, जिस ओर से आया था, उसी दिशा को चला गया।

सोमिल द्वारा रखे गये दहकते अगारो से मुनि गजसुकुमार को तीव्र वेदना हुई। उनका खून उबलने लगा, मास जलने लगा। ज्यो-ज्यो वेदना बढ़ती जाती थी, उनका देहाध्यास समाप्त होता जाता था। ऊपर सिर पर अगारे अवश्य जल रहे थे, पर उनके अन्दर से कषायो की ज्वाला तो पूरी तरह बुझ चुकी थी। कषायों की अग्नि तो बड़ी भयकर होती है। यही अग्नि राज्यो का विध्वस करती है, इसी अग्नि से बीभत्स युद्ध होते है और यही अग्नि मनुष्य को नरक का द्वार भी दिखाती है। मुनि गजसुकुमार के हृदय मे तो शान्ति का अनन्त सागर लहरा रहा था। सोमिल के प्रति उनके मन मे द्वेषभाव भी लेश नही था बल्कि वे तो सोमिल के आभारी थे, क्योंकि सोमिल उनको सिद्धत्व प्राप्त कराने मे सहायक बनकर आया था। मुनि

गजसुकुमार अपार और असह्य वेदना के होते हुए भी अविचल और अडिग खड़े हैं। उनकी दृष्टि और मन में अपूर्व सौम्यता-समता है। ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण तथा माता देवकी और पिता वसुदेव के प्रति उनकी जो भावना है, वही भावना सिर पर अंगारे रखने वाले सोमिल ब्राह्मण के प्रति भी है। क्षमा का यह साक्षात् प्रतिरूप गजसुकुमार हमें बता रहा है कि यह देह आत्मा से भिन्न है। तुम्हारी आत्मा अजर-अमर है। शरीर के जलने से आत्मा नहीं जल सकती। तुम अपने अपराधी पर तनिक मात्र भी रोष मत करो, अपराधी व्यक्ति नहीं, कर्म है जो स्वयं तुमने किये हैं। गजसुकुमार के सिर की आग निरन्तर बढ़ती जा रही थी और राग द्वेष, तथा काम-क्रोध की आग बुझ रही थी। क्षमामूर्ति गजसुकुमार ने अपनी शक्ति का उपयोग पथभ्रष्ट ब्राह्मण सोमिल को भस्म करने में नहीं किया, बल्कि कर्म-कचरे को जलाने में किया।

इस प्रकार मुनि गजसुकुमार समभाव पूर्वक सिर पर जलती अग्नि की महावेदना को सहन करने लगे और शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसायों तथा तदावरणीय कर्मों के नाश से कर्म-विनाशक अपूर्वकरण में प्रवेश किया, जिससे उनको अनन्त, प्रधान व्याघात-रहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। तदनन्तर समस्त कर्मों का क्षय हो जाने के कारण अनगार गजसुकुमार कृतकृत्य बनकर 'सिद्ध' पद को प्राप्त हुए और लोकालोक के सभी पदार्थों के ज्ञान से 'बुद्ध' हुए। सभी कर्मों से छूट जाने से वे परिनिर्वाण तथा शीतलीभूत हुए। शारीरिक तथा मानसिक सभी दुःखों से रहित होने के कारण 'सर्व दुःखप्रहीण' हुए, अर्थात् अनगार गजसुकुमार मोक्ष को प्राप्त हो गए।

मुनि गजसुकुमार ने चारित्र का सम्यक् आराधन किया, अद्भुत समत्व की साधना की और एक ही दिन की चारित्र पर्याय में मोक्ष प्राप्त कर लिया। इस निर्वाण महोत्सव पर देवों ने अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा दिव्य सुगन्धित अचित्त जल और पांच वर्णों के अचित्त पुष्पों एवं वस्त्रों की वर्षा की और दिव्य मधुर गायन एवं वाद्यों की ध्वनि से आकाश को गूंजा दिया।

बन्धुओ! सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधकों को जीवनभर दीक्षा-पर्याय का पालन करना पड़ता है, सहन करने पड़ते हैं, तब कहीं उन्हें सिद्धि मिल पाती है, फिर भी यह जरूरी नहीं कि हर साधक को उस ही भव में सिद्धत्व प्राप्त हो जाए। लेकिन अनगार गजसुकुमार को जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन की एक रात में सिद्धि मिल गई, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए—मोक्ष को प्राप्त हो गए। यह सब सतत और उत्कट साधना का ही परिणाम था—'करेमि वा मरेमि' की दृढ़ प्रतिज्ञा को साकार ही व्यवस्थित हुए थे और अन्त में सिद्धत्व प्राप्त करके ही माने। उनकी साधना का अनूठा भेद यही था—समत्व साधना।

हत्यारे की मौत

जिस रात मुनि गजसुकुमार ने मोक्ष प्राप्त किया, उस रात के बाद जब

सूर्योदय हुआ तो स्नानादि से निवृत्त होकर यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र ने वस्त्राभूषण धारण किये और गजराज पर आरूढ होकर द्वारका नगरी के मध्य राजमार्ग से भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने चले। उनका कण्ठ कोरण्ट फूलो की माला से शोभित था। सिर पर छत्र शोभा पा रहा था और उनके दायें-बायें दोनों ओर श्वेत चामर डुलाये जा रहे थे। ऐसे शोभा सम्पन्न द्वारकाधीश यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र के साथ अगणित सुभटो का समूह चल रहा था।

जब श्री कृष्ण गजारूढ होकर सुभटो के समूह के साथ द्वारका के राजमार्ग से गुजर रहे थे, तब उन्होंने एक वृद्ध को अपने द्वार से घर के भीतर ईंटें ले जाते हुए देखा। इस वृद्ध के घर के सामने ईंटों का ढेर लगा हुआ था, वह एक-एक ईंट उठाकर अपने घर के भीतर ले जा रहा था। वृद्धावस्था के कारण वृद्ध का शरीर बहुत जर्जर हो रहा था। उसकी दृष्टि क्षीण हो चुकी थी। पैरो में चलने की शक्ति नष्टप्राय थी। हाथो मे उठाने-धरने की शक्ति भी नाममात्र को थी। ऐसा वह वृद्ध कांपते हाथो से एक ईंट उठाता था और धीरे-धीरे चलकर ईंट को घर के भीतर पहुँचा आता था। उसका यह कार्य उसकी विवशता, असहायावस्था और साथ ही कार्य की अनिवार्यता को प्रकट कर रहा था।

उस दु खी-असहाय और विवश वृद्ध को इस प्रकार एक-एक ईंट ले जाते देखकर कृष्ण वासुदेव के मन मे अनुकम्पा हुई। सहयोग की भावना जागी। अपने पद का अहकार त्याग कर के सरल करुणापूरित हृदय से उन्होंने स्वय अपने हाथ से एक ईंट उठाई और वृद्ध के घर मे रख दी। अपने स्वामी द्वारा इस प्रकार ईंट उठाकर रखने की क्रिया देख उनके साथ के सुभटो ने भी श्री कृष्ण का अनुकरण किया, और देखते-देखते सभी सुभटों ने ईंट का सारा ढेर वृद्ध के घर यथास्थान पहुँचा दिया। ससार की रीति यही है—यद्यदाचरति श्रेष्ठो लोकस्तदनुवर्तते—बड़े आदमी जो आचरण करते हैं, सामान्य-जन उनका अनुसरण करता है। इसलिए श्रेष्ठ और योग्य कार्यों मे बडो को सदा पहल करनी चाहिए। हाँ, तो इस प्रकार श्री कृष्ण के एक ईंट उठाने मात्र से उस वृद्ध का बार-बार चक्कर काटने का कष्ट दूर हो गया। वृद्ध का कार्य सम्पन्न कर यादवेन्द्र कृष्णचन्द्र भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण मे नन्दनवन पहुँचे। भगवान को वन्दन-नमस्कार कर उन्होंने नवदीक्षित लघुभ्राता गजसुकुमार को वन्दनादि के लिए इधर-उधर देखा। जब उन्हे कहीं भी गजसुकुमार दिखाई नही दिये तो उन्होंने आतुरतापूर्वक भगवान से पूछा—

"हे भगवन्! मेरा सहोदर लघुभ्राता नवदीक्षित गजसुकुमार कहाँ है? मैं उनको वन्दन-नमस्कार करना चाहता हूँ।"

भगवान ने बताया—"साहिए णं कण्हा! गयसुकुमालेणं अणगारेणं अप्पणो अट्ठा।

इस पर श्रीकृष्ण ने पूछा—"प्रभो ! उस पुरुष ने गजसुकुमार को सिद्धि प्राप्त करने मे क्योकर और कैसे सहायता दी ?"

कृष्ण के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान समझाते हुए बोले—

"हे कृष्ण ! जब तुम अपने सुभटो सहित गजारूढ होकर मेरे पास आ रहे थे, तब तुम्हें द्वारका के मध्य राजमार्ग मे एक वृद्ध पुरुष मिला था, जो अपने कांपते हाथो से एक-एक ईंट उठा करके भीतर ले जा रहा था। उस पर अनुकम्पा करके तुमने ईंटो के ढेर मे से एक ईंट उठाकर वृद्ध के घर मे पहुंचा दी थी। तुम्हारी देखा-देखी तुम्हारे अनुचर सुभटो ने भी ईंटें उठाई और पूरा ढेर वृद्ध के घर पहुंचा दिया। हे कृष्ण ! तुम्हारे इस अनुकम्पाजनित सेवाकार्य मे वृद्ध का कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो गया।

"हे कृष्ण ! जिस प्रकार तुमने उस वृद्ध पुरुष की सहायता की, उसी प्रकार उस पुरुष ने गजसुकुमार के सिर पर दहकते अगारे रखकर गजसुकुमार की सहायता की, "अणेगभवसय सहस्ससचियकम्म उदीरेमाणेणं बहुकम्मणिज्जरट्ठ साहिज्जे दिण्णे।" क्योकि उस पुरुष के इस कार्य ने गजसुकुमार के लाखों भवो मे सचित किये हुए कर्मों की एकान्त उदीरणा करके उनका सम्पूर्ण क्षय करने मे सहायता दी है।"

भगवान के इस समाधान के अनन्तर कृष्ण को उस पुरुष का परिचय, नाम आदि जानने की उत्सुकता हुई। अत. कृष्ण ने भगवान से पूछा—

'हे भगवन् ! मैं उस पुरुष को किस प्रकार जान सकूंगा ?"

भगवान ने बताया—

"हे कृष्ण ! जब तुम मेरे पास से वापस लौटोगे और द्वारका नगरी मे प्रवेश करोगे तभी तुम्हें एक पुरुष मिलेगा। तुम्हे देखते ही वह पुरुष अपना आयु पूर्ण कर तुम्हारे सामने ही खड़ा-खड़ा मृत्यु को प्राप्त होगा। उस पुरुष को ही तुम वह पुरुष समझना।"

भगवान अरिष्टनेमि से सब तरह का समाधान प्राप्त कर कृष्ण ने उन्हें वन्दन नमस्कार किया और आभिषेक्य हाथी पर बैठकर द्वारका नगरी मे अपने भवन की ओर जाने लगे।

इधर सोमिल ब्राह्मण गजसुकुमार के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बांधकर और सिर पर दहकते अगारे रखकर घर लौट आया तो प्रात काल उठकर उसने विचार किया—'कृष्ण-वासुदेव भगवान अरिष्टनेमि की वन्दना करने गये हैं। भगवान् ने कृष्ण को मेरे द्वारा किये गये पाप का वृत्तान्त श्री कृष्ण को अवश्य बता दिया होगा, क्योकि भगवान अरिष्टनेमि तो अन्तर्यामी हैं और सब कुछ जानते है। मेरे इस कार्य से पूर्ण समर्थ कृष्ण-वासुदेव न जाने मुझे किस मौत मारें।' यह सोच कर उसने निश्चय किया कि कृष्ण-वासुदेव तो गजारूढ होकर राजमार्ग से लौटेंगे, अत. मुझे गली-कूचो मे होकर ही द्वारका नगरी को छोड़कर भाग जाना चाहिए।

७

सुमुख आदि राजकुमारों का भव-तरण

बंधुओ,

समता के महान साधक, क्षमा की साकार मूर्ति गजसुकुमार मुनि का जीवन-वृत्त आपने सुना। पर्युषण पर्व के दिनो मे ये चरित्र, ये पवित्र जीवन गाथाएँ सुनाने का उद्देश्य यही है कि हमारे हृदय मे समता, तितिक्षा और धीरता के ये संस्कार बद्ध मूल हो, इन संस्कारों के अकुर पल्लवित हो, पुष्पित हो और समत्वयोग का अमर वृक्ष जीवन मे लहलहाने लगे।

अगले अध्ययनो मे मैं आपको त्याग-वैराग्य और तप के कुछ महान् श्रेष्ठ साधको की जीवन गाथाएँ भगवान की वाणी के माध्यम से सुनाऊँगा। इनमे कुछ भिन्न पात्र हैं, पर सभी साधक भगवान अर्हत् अरिष्टनेमि के चरणो मे दीक्षित होते हैं, और सुदीर्घ साधना द्वारा आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि अपनी अमृतमय देशना से ससार को अमरता का सन्देश देते हुए जन-जन को भवसागर से पार करने हेतु धर्मरूपी नाव पर बैठाकर पार उतार रहे थे। उन्ही दिनों एक सौ आठ वर्ग योजन क्षेत्रफल वाली स्वर्ग-सदृश द्वारका नगरी में बलदेव नामक राजा रहते थे। यद्यपि द्वारका नगरी के शासन सूत्र का संचालन तो वासुदेव श्रीकृष्ण के हाथो मे ही था। अधिपति तो वे ही थे, किन्तु राज्य मे जो भी वीर और ज्येष्ठ पुरुष थे, वे भी 'राजा' कहलाते थे, सभी का वहाँ पूर्ण सम्मान था और सभी के अधिकार बँटे हुए थे। इसलिए बलदेव भी राजा कहलाते थे। बलदेव की धर्म मे प्रगाढ़ श्रद्धा थी। इनकी रानी का नाम धारिणी था। धारिणी सौम्य, सुशील, सुन्दर, सुकुमारी और पतिपरायणा थी। वह राजा बलदेव के समान ही धर्म मे रुचि लेने वाली और बलदेव नृपति की धर्मसंगिनी भार्या थी।

एक बार रानी धारिणी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे एक स्वप्न देखा। स्वप्न मे उसने अपने समीप एक सिंह को बैठे हुए देखा। जब रानी की आँख खुली तो उसने सिंह दर्शन का स्वप्न राजा बलदेव को सुनाया। रानी का स्वप्न सुनकर राजा ने विचार किया कि रानी की कोख से एक सुन्दर और पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न होगा।

कालान्तर मे रानी धारिणी गर्भवती हुई। सयम-नियम और धर्माराधन करते हुए उसने गर्भकाल पूरा किया। इस प्रकार जब नौ महीने पूरे हुए तो राजमहिषी धारिणी ने एक सुन्दर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। राजा ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया

वसुदेव-धारिणी के पुत्र तथा कृष्ण वासुदेव के पौत्र-पुत्रों का भव-भय-तरण

बारह योजन चौड़ी तथा नौ योजन लम्बी अलका नगरी के समान सुन्दर द्वारका नगरी मे राजा वसुदेव तथा वासुदेव कृष्ण का राज्य था। वसुदेव की रानी धारिणी परम रूपवती व पतिपरायणा थी। एक रात, जब धारिणी सुख शय्या पर निद्रासुख मे डूबी हुई थी, तब उसने स्वप्न मे एक सिंह को देखा। रानी धारिणी ने सिंह स्वप्न का वृत्तान्त राजा वसुदेव को बताया। यह स्वप्न शुभ परिणामी—पुण्यात्मा पुत्र के आगमन का सूचक था। यथासमय रानी धारिणी गर्भवती हुई और संयम-नियम से सवा नौ महीने पूरे करके उसने एक सुन्दर-सुकुमार पुण्यात्मा पुत्र को जन्म दिया। वसुदेव ने अपने वैभव के अनुरूप पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम जालिकुमार रखा। जालिकुमार ने बड़े लाड़-प्यार और सुखो म अपना बचपन बिताया और फिर यौवन के द्वार पर पग रखा।

जब जालिकुमार विवाह-योग्य हुआ तो नृपति वसुदेव ने पचास राजकन्याओ के साथ उसका विवाह सम्पन्न किया। कन्याओ के पिताओ ने राजा वसुदेव को प्रीति-उपहार के रूप मे प्रचुर धन भी दिया। राजकुमार जालि अपनी पचास पत्नियो के साथ भोग-विलास मे रत रहकर पुण्योपार्जित सुखो का भोग करने लगा।

उन्ही दिनो तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। रैवतगिरि पर अव-स्थित सहस्राम्रवन म अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मसभा जुड़ी। हजारो नर-नारियो ने उनका उपदेश सुना। जालिकुमार ने उनका उपदेश सुना तो समस्त काम-भोगो और सांसारिक सुखो को इसी प्रकार त्याग दिया जैसे कोई रोगी—मिष्टान्नादि को विष समझकर त्याग देता है। प्रतिबुद्ध जालिकुमार ने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अंगीकार करली और प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर चारित्र का पालन करने लगा।

जालिकुमार अनगार ने बारह अगो का अध्ययन किया और सोलह वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन करते हुए अन्त मे शत्रुंजय गिरि पर एक मास का संथारा लिया और सब कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

जालिकुमार अनगार के समान उन्ही के सहोदर तथा वसुदेव-धारिणी के

वासुदेव-अंगजात—मयालि, उवयालि, पुरुषसेन और वारिसेन ने भी भगवान अरिष्ट-नेमि के पास दीक्षा लेकर भव पारावार पार किया।

इसी प्रकार वासुदेव कृष्ण की अनेक पटरानियों में रुक्मिणी के अंगजात प्रद्युम्नकुमार हुए। जाम्बवती के अंगजात शाम्बकुमार हुए। कृष्ण वासुदेव के ये दोनों पुत्र भी भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हुये। इन्होंने भी बारह अंगों का अध्ययन किया, सोलह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन किया और एक मास का संथारा करके शत्रुंजय पर्वत पर सिद्धि प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इसी प्रकार प्रद्युम्न के आत्मज और उनकी रानी वैदर्भी के अंगजात अनिरुद्ध-कुमार ने भी मुक्ति प्राप्त की। अनिरुद्ध कुमार कृष्ण-वासुदेव के पौत्र थे।

इन सबकी तरह समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र सत्यनेमि और दृढनेमि ने भी संसार-सुखों को त्यागकर मुक्ति प्राप्ति की। ये दोनों अर्हत् अरिष्टनेमि के अनुज थे।

इन सभी का जन्म, जीवन और मरण एक जैसा ही है। इसलिए यहाँ संक्षेप में नाममात्र सूचित किया गया है। ये अन्तगड सूत्र वर्ग ४ के १० कुमारों—जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन वारिसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, सत्यनेमि और दृढनेमि के क्रमशः दस अध्ययन हुए।

अन्तगड दशा सूत्र, वर्ग ४, अध्ययन १ से १० तक समाप्त

१

महान नारियाँ

बंधुओ !

पिछले दिनों आपके सामने अंतगड सूत्र के वाचन में अनेक वीर राजकुमारों का वर्णन सुनाया गया। उनके तप, त्याग, क्षमा, तितिक्षा से भरे जीवन का प्रेरक चित्र भी आपके सामने आया।

अब इस पाँचवें वर्ग में दस महान नारियों की कठोर आत्म-साधना, उग्र तपश्चरण का रोमहर्षक वर्णन है। इनमें ८ तो वासुदेव श्रीकृष्ण की रानियाँ थीं, सुख-वैभव और आनन्द से परिपूर्ण जीवन जी रही थी। वासुदेव की रानी को भोग-विलास और सुख-सुविधा के साधनों की क्या कमी ? पर जिसका अन्तःकरण जागृत होता है, वह संसार की क्षणभंगुर सुख-सुविधाओं में नहीं फँसता। भोग-विलास उसे भयंकर कीचड़ और दलदल प्रतीत होता है, वह दलदल से, भोगों के दावानल से अपनी आत्मा को निकालने का प्रयत्न करता है।

ये दस राज-रानियाँ भी सांसारिक सुखों को छोड़कर मुक्ति के मार्ग पर चलती हैं। नारी, तप-त्याग और सेवा के क्षेत्र में सदा अग्रणी रही है। उसका आत्मबल पुरुष से कम नहीं है। भले ही वह शरीर से सुकुमार हो, अबला कहलाये, पर आत्मबल की दृष्टि से वह पुरुष से भी बढ़ी-चढ़ी सिद्ध हुई है। राजीमती जैसी सतियों का उदाहरण हम सुनते ही हैं। इस प्रकरण में आपके सामने ऐसी ही दस महान् नारियों का जीवन चरित्र सुनाया जा रहा है, जिन्होंने उग्रतम तप-साधना कर अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं।

उनकी कथाएँ इस प्रकार हैं—

कृष्ण-वासुदेव का आर्तध्यान तथा भगवान अरिष्टनेमि द्वारा शोक निवारण

स्वर्ण परकोटे से घिरी, रत्नजटित कंगूरों से शोभित नगर शोभा में स्वर्ग से प्रतिस्पर्धा करने वाली — नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी द्वारका नगरी में कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। श्यामघन के समान नीले वर्ण वाले, महाप्रतापी वीर-धीर नरेन्द्र कृष्ण वासुदेव के पद्मावती, रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि अनेक रानियाँ थीं। सभी रानियाँ पतिअनुरक्ता और धर्मपरायण थीं। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और

सुख, अन्त पुर और सांसारिक सुखों में लिप्त हूँ। इन सबसे मुक्त होकर मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा नही ले सकता। हे कृष्ण ! क्या यह सत्य है ?"

कृष्ण ने कहा—

"प्रभो ! आपने जो कहा, सब सत्य है। भगवन् ! आप अन्तर्यामी है। आपसे कोई बात छिपी नही रह सकती।

फिर त्रिलोकीनाथ भगवान ने कृष्ण को बताया—

"हे कृष्ण ! तुम्हारा ऐसा सोचना उचित नहीं है, क्योंकि शाश्वत नियमो को बदलने की शक्ति किसी मे नही है।

णो खलु कण्हा ! एवं भूए वा भव्वं वा भविस्सइ वा जण्णं वासुदेवा चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइस्संति।

हे कृष्ण ! ऐसा कभी नही हुआ, होता नही और होगा भी नही कि वासुदेव अपने सब मे धन सम्पत्ति छोड़कर प्रव्रजित हो जाए। वासुदेव दीक्षा लेते नहीं, ली नहीं और लेंगे भी नहीं।"

भगवान की ऐसी बात सुनकर कृष्ण ने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए प्रभु से पूछा—

"हे प्रभो। इसका क्या कारण है ? ऐसा क्यो नही होता, क्यो नही हुआ और क्यों नही होगा ?"

इस पर भगवान ने बताया—

एवं खलु कण्हा ! सव्वे वि य णं वासुदेवा, पुव्वभवे णियाणकडा।

"हे कृष्ण ! सभी वासुदेव पूर्वभव मे निदानकृत (नियाणा करने वाले) होते हैं। इसलिए मैं ऐसा कहता हूँ कि ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नही और होगा भी नहीं कि वासुदेव अपनी सम्पत्ति को छोड़कर दीक्षा लें।"

जब कृष्ण वासुदेव की इस शंका का समाधान हो गया तो उनके मन में दूसरी शंका उठी। उन्होंने भगवान से पूछा—

"हे भगवन् ! मैं अपना आयुष्य पूर्ण करके यहाँ से कहाँ जाऊँगा और कहाँ उत्पन्न होऊँगा ?"

भगवान ने बताया—

"हे कृष्ण ! जैसा कि मैंने बताया सुरा अग्नि और द्वीपायन ऋषि से द्वारका नगरी का नाश हो जाएगा। सभी यादव और तुम्हारे माता-पिता भी द्वारका दाह में जलकर मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे। तब तुम राम-बलदेव के साथ दक्षिण समुद्र के किनारे पाण्डु राजा के पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पांचों पाण्डवों के समीप पाण्डु-मथुरा की ओर जाओगे। इस प्रकार पाण्डु-मथुरा की ओर जाते हुए (मार्ग में) कोशाम्ब वन में एक विशाल वृक्ष के नीचे विश्राम

करोगे—वृक्ष की शिलापट्ट पर पीताम्बर ओढ़कर सो जाओगे। उस समय तुम्हारा बायाँ पैर दायें पैर के मुड़े हुए धनुषाकार घुटने पर रखा होगा। तुम्हारे बाएँ पैर को देख कर जराकुमार को मृग का भ्रम होगा। भ्रमवश वह बाण चलायेगा। जराकुमार द्वारा छोड़ा गया तीर तुम्हारे बाएँ पैर के तलवे में लगेगा और तभी तुम मृत्यु को प्राप्त होगे। इस प्रकार मरकर तुम बालुका प्रभा नामक तीसरी पृथ्वी में जन्म लोगे।"[1]

इस प्रकार अपना मरण और आगामी जन्म का वृत्तान्त जानकर कृष्ण वासुदेव आर्तध्यान करने लगे। यों कृष्ण को चिन्ता व आर्तध्यान करते देख अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने उन्हें समझाया—

"हे कृष्ण! तुम इस प्रकार आर्तध्यान मत करो। तुम (वहाँ से) उत्सर्पिणी काल में इसी जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के पुण्ड्रजनपद के शतद्वार नगर में 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे। वहाँ बहुत वर्षों तक केवल-पर्याय का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त करोगे।"

जब वासुदेव कृष्ण ने अपना सुखद भविष्य सुना तो हर्ष-विभोर होकर अपनी भुजा ठोकने लगे और हर्षातिरेक में जोर-जोर से नाद करने लगे। उन्होंने तीन चरण पीछे हटकर सिंहनाद किया। फिर भगवान को वन्दन-नमस्कार करके अभिषेक हस्ति-रत्न पर चढ़े और द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपने भवन पहुँचे। फिर स्वस्थ चित्त होकर नगर में घोषणा कराई कि जो भी व्यक्ति भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहे, कृष्ण वासुदेव उस व्यक्ति के पीछे जीवित व्यक्ति के आश्रित परिवारी-जनों का भरण-पोषण करेंगे—उनके द्वारा छोड़े गये समस्त उत्तरदायित्व का पालन करेंगे और दीक्षार्थी पुरुष का दीक्षा समारोह भी करेंगे। कृष्ण की इस घोषणा के बाद अनेक नर-नारियों ने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अंगीकार की।

[अंतगडदशा सूत्र, वर्ग ५, अध्ययन १ का पूर्वार्द्ध]

१ तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए जाव उववज्जिहिसि।

१०

महारानी पद्मावती द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति

बंधुओ !

कल के प्रवचन मे द्वारिका के सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण वासुदेव की चिन्ता की चर्चा चली थी। मैंने बताया था कि—ससार को सत्य एव कल्याण मार्ग दिखाते हुए, जन-जन त्राता भगवान अरिष्टनेमि एक बार सहस्राम्रवन मे पधारे। उनके दर्शन-वन्दन करने द्वारकाधीश यादवेन्द्र कृष्ण वासुदेव तथा कृष्णप्रिया पद्मावती भी पहुँचे। नगर के अनेक नर-नारी तथा राजपरिवार के अन्य लोग भी भगवान की धर्मसभा मे उपस्थित हुए। भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई। प्रभु की धर्मकथा सुनने के बाद सभी लोग अपने-अपने घर लौट गए। महारानी पद्मावती भी अपने धर्मरथ मे बैठकर अपने भवन को आ गई। मात्र वासुदेव कृष्ण भगवान के पास रह गए।

कृष्ण वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि से द्वारका के विनाश का कारण पूछा तो प्रभु ने बताया कि मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण द्वारका का विनाश होगा। फिर कृष्ण वासुदेव ने इस बात का पश्चात्ताप किया कि जालिकुमार, मयालि, प्रद्युम्न आदि धन्य थे जो दीक्षा-पर्याय का पालन कर भवसागर से पार हो गए। मैं अपनी सम्पत्ति को त्यागकर प्रभु के पास दीक्षा अगीकार नही कर सकता। कृष्ण के मन का भाव जानकर अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने बताया कि हे कृष्ण ! चूंकि सभी वासुदेव निदानकृत (नियाणा करने वाले) होते है, इसलिए ऐसा कभी हुआ नही, होता नही, और होगा भी नही कि वासुदेव अपने मन से सम्पत्ति छोडकर प्रव्रजित हो जाय। वासुदेव दीक्षा लेते ही नही, ली नही और लेगे भी नही। इतना जान लेने के बाद कृष्ण ने अपना आगामी भव पूछा तो भगवान ने बताया कि द्वारका के नाश के अनन्तर तुम राम-बलदेव के साथ पाण्डवो के पास पाण्डु-मथुरा जाओगे। उधर जाते हुए कोशाम्ब वृक्ष के वन मे एक विशाल वट वृक्ष के नीचे तुम पीताम्बर ओढकर धरती पर सो जाओगे। तब जराकुमार मृग के भ्रम से तुम्हारे बाएँ पैर मे बाण मारेगा। इस प्रकार आयुष्य पूर्ण कर तुम बालुका प्रभा नामक तीसरी पृथ्वी मे जन्म लोगे। कृष्ण वासुदेव अपने आगामी भव का हाल जानकर आर्तध्यान करने लगे। तब अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने कृष्ण वासुदेव से कहा—

"हे कृष्ण ! तुम आर्तध्यान मत करो। तीसरी पृथ्वी से निकलकर तुम (शीघ्र ही) आगामी उत्सर्पिणी काल में इसी जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के पुण्ड्रजनपद के शतद्वार नगर में 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे। वहाँ बहुत वर्षों तक केवल-पर्याय का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त करोगे।"

इस प्रकार जब कृष्ण वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि के श्रीमुख से अपना सुखद भविष्य सुना तो वे हर्षातिरेक से भरकर अपनी भुजाओं को ठोकने लगे और तीन कदम पीछे हटकर हर्षित मन से उन्होंने सिंहनाद किया। तदनन्तर भगवान को वन्दन-नमस्कार कर अभिषेक हस्तिरत्न पर चढ़कर द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपने भवन पहुँचे। इसके बाद वे अपने स्वर्णसिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे और राज सेवकों को बुलाकर अपनी आज्ञा सुनाते हुए बोले—

"हे देवानुप्रिय ! इस द्वारका नगरी के चौराहों आदि सभी स्थानों पर मेरी इस आज्ञा को प्रसारित करो—

'बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी, देवलोक के समान इस द्वारका नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण होगा। अतः द्वारका का कोई भी व्यक्ति—राजा, युवराज, स्वामी, मंत्री, ईश्वर, माडम्बिक (छोटे गाँव का स्वामी), कौटुम्बिक (दो-तीन कुटुम्बों का स्वामी), इभ्यसेठ, रानी, कुमार-कुमारी—जो भी भगवान अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा लेना चाहे, उन्हें कृष्ण-वासुदेव दीक्षा लेने की आज्ञा देते हैं। दीक्षा लेने वाला अपने पीछे जो भी उत्तरदायित्व छोड़ेगा, बाल, वृद्ध, रोगी जो भी उसके पीछे रह जायेंगे, कृष्ण वासुदेव उन सबका भार सँभालेंगे। दीक्षा लेने वाले का दीक्षा महोत्सव भी बड़े समारोह के साथ कृष्ण-वासुदेव अपनी ओर से करेंगे।'

"हे देवानुप्रिय ! मेरी इस आज्ञा की घोषणा दो-तीन बार करके मुझे सूचित करो।"

राजसेवकों ने कृष्ण की आज्ञानुसार दो-तीन बार पूरी द्वारका में उसकी घोषणा प्रसारित कर दी और उसकी सूचना यादवेन्द्र कृष्ण-वासुदेव को दे दी।

पद्मावती का वैराग्य

कृष्णप्रिया महारानी पद्मावती ने जब भगवान अरिष्टनेमि से धर्म उपदेश सुना तो प्रतिबुद्ध होकर भगवान से प्रार्थना की—

"प्रभो ! आपका उपदेश यथार्थ है। जैसा आप कहते हैं, वही सत्य है, वही तथ्य है—संसार सब मिथ्या और निस्सार है। मैं प्राणेश कृष्ण-वासुदेव से अनुज्ञा लेकर आपके समीप दीक्षा लेना चाहती हूँ।"

भगवान अरिष्टनेमि ने कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा को सुख हो, वैसा करो, पर धर्म कार्य में प्रमाद जरा भी मत करो।"

इस प्रकार प्रभु की अनुमति प्राप्त कर रानी पद्मावती धर्म रथ मे बैठकर द्वारका के मध्य होती हुई अपने भवन को लौटी। फिर कृष्ण-वासुदेव के समीप गई और दोनो हाथ जोड इस प्रकार विनययुक्त वाणी मे बोलीं—

"हे देवानुप्रिय ! मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहती हूँ। सो आप मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करें।"

पद्मावती की अभिलाषा सुनकर कृष्ण-वासुदेव ने कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा कार्य करो।"

अपनी प्रिया महारानी पद्मावती को दीक्षानुमति प्रदान करने के अनन्तर कृष्ण वासुदेव ने राजसेवको को दीक्षा प्रबन्ध की आज्ञा प्रदान करते हुए इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय ! पद्मावती देवी के लिए दीक्षा महोत्सव की तैयारी करो और तैयारी हो जाने पर मुझे शीघ्र ही सूचित करो।"

राजपुरुषो ने कृष्ण वासुदेव के वैभव के अनुकूल दीक्षा महोत्सव की सब व्यवस्था की और यथासमय द्वारकेश श्री कृष्णचन्द्र को सूचित किया। जब सब व्यवस्था पूर्ण हो गई तो कृष्ण वासुदेव ने देवी पद्मावती को पाट (चौकी) पर बैठाकर एक सौ आठ स्वर्ण कलशो से स्नान कराया, फिर दीक्षा अभिषेक किया और सब अलकारो से अलकृत करके हजार पुरुषो द्वारा उठाई जाने वाली पालकी मे बिठाकर बड़े भारी जनसमूह के साथ द्वारका नगरी के मध्य होते हुए रैवतगिरि पर स्थित सहस्राम्रवन मे ले गये। यथास्थान पालकी रोककर रानी पद्मावती नीचे उतरी। फिर पद्मावती को आगे करके कृष्ण वासुदेव भगवान अरिष्टनेमि के निकट आये। तदनन्तर भगवान को वन्दन नमस्कार कर इस प्रकार विनीत वचन बोले—

"हे भगवन् ! यह पद्मावती देवी मेरी पटरानी है। यह मेरे लिए इष्ट, कान्त, मनोज्ञ और मेरे मन के अनुकूल कार्य करने वाली है। हे प्रभो ! यह अभिराम और मुझे अपने श्वासोच्छ्वास के समान प्रिय है और मेरे हृदय को आनन्दित करने वाली है। और अधिक क्या कहूँ, पद्मावती—जैसे स्त्रीरत्न गूलर के फूल के समान सुनने के लिए भी दुर्लभ है, देखने की बात तो बहुत दूर है। हे भगवन् ! ऐसी पद्मावती को मैं आपको शिष्यारूप भिक्षा मे देता हूँ। आप मुझ पर अनुग्रह करके इस शिष्यारूप भिक्षा को स्वीकार करें।"

किसी को बधन मे न बाँधने की इच्छा वाले और सबको बन्धन मुक्त करने वाले भगवान अरिष्टनेमि ने इस प्रकार कहा—

"जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

इसके बाद ईशान कोण मे जाकर पद्मावती देवी ने अपने हाथों द्वारा अपने शरीर के सभी आभूषण उतार दिये और अपने ही हाथो से अपने केशो का पचमुष्टि लुचन किया। तदनन्तर भगवान के पास आकर उन्हें वन्दन नमस्कार किया और इस प्रकार विनीत वचन बोली—

"हे प्रभो ! यह संसार जन्म, जरा और मरण आदि दुःखरूपी अग्नि से जल रहा है । हे प्रभो ! इस दुःख-समूह से छुटकारा पाने के लिए मैं आपसे दीक्षा अंगीकार करना चाहती हूँ । अतः प्रभो ! कृपा करके मुझे प्रव्रजित कीजिए और चारित्र धर्म सुनाकर कृतार्थ कीजिए ।"

पद्मावती देवी की प्रार्थना सुनने के बाद भगवान अरिष्टनेमि ने पद्मावती को प्रव्रजित और मुण्डित करके 'यक्षिणी आर्या' की शिष्या बनाकर उन्हें सौंप दिया । यक्षिणी आर्या ने शिष्या पद्मावती को प्रव्रजित किया और संयम क्रिया में सावधान रहने की शिक्षा देते हुए कहा—

"साध्वी पद्मावती ! तुम संयम में सदा जागरूक और सावधान रहना । संयम में किसी प्रकार शिथिलता कहीं भी नहीं रखना ।"

साध्वी पद्मावती ने आर्या यक्षिणी की आज्ञा को शिरोधार्य किया और यत्नपूर्वक संयम का पालन करने लगी । वे ईर्यासमिति आदि पाँचों समिति से युक्त हो ब्रह्मचारिणी बन गई । साध्वी पद्मावती ने यक्षिणी आर्या के समीप सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और साथ ही उपवास, बेला, तेला, चोला, पचोला, पन्द्रह-पन्द्रह दिन तथा महीने-महीने तक की तपस्या करते हुए विचरण करने लगीं । इस प्रकार पूरे बीस वर्ष तक साध्वी पद्मावती ने चारित्र-पर्याय का पालन किया । अन्त में एक मास की संलेखना की और साठ भक्त अनशन करके जिस अर्थ के लिए संयम लिया था उस मोक्ष की आराधना करके अन्तिम श्वास के बाद सिद्ध पद को प्राप्त किया ।

(अन्तगड दशा सूत्र, वर्ग ५ अध्ययन १ का सारांश)

११

गौरी आदि रानियों की दीक्षा

बन्धुओ !

अन्तगड सूत्र के वर्ग ५ के प्रथम अध्ययन मे आपने महारानी पद्मावती की दीक्षा एव साधना की कथा सुनी, अब यहाँ वासुदेव की अन्य रानियो की ससार त्याग की घटनाएँ बताई जाती हैं।

जब भवभय-तरण-तारण भगवान अरिष्टनेमि द्वारका नगरी के निकट रैवतगिरि-पर स्थित सहस्राम्रवन मे पधारे। विशाल अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मपरिषद् जुटी कृष्ण-वासुदेव भी भगवान के दर्शन वन्दन करने गये। कृष्ण-वासुदेव की परमप्रिया पट्टमहिषी गौरी भी पद्मावती के समान धर्मरथ पर आरूढ होकर भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण मे नन्दनवन पहुँची। उसने प्रभु से धर्म सुना और पद्मावती की तरह भवभय से छुटकारा पाने के लिए भगवान के समीप दीक्षा अगीकार कर ली। महारानी गौरी ने भी पद्मावती देवी की तरह सयम का पालन किया और अन्त मे सिद्धत्व प्राप्त किया।

महारानी गौरी की तरह गन्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवन्ती, सत्यभामा और रुक्मिणी ने भी भगवान् के समीप दीक्षा लेकर चारित्र पर्याय का पालन किया और सिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार पद्मावती सहित कृष्ण वासुदेव की आठो पटरानियो ने सिद्धत्व प्राप्त किया।

कृष्ण वासुदेव की पटरानी जाम्बवन्ती की कोख से उत्पन्न कृष्ण के आत्मज शाम्बकुमार पहले ही दीक्षा ले चुके थे। शाम्बकुमार के मूलश्री तथा मूलदत्ता नाम की दो रानियाँ थी। पति शाम्बकुमार द्वारा सिद्धत्व प्राप्त करने के बाद उन्होंने जब भगवान् अरिष्टनेमि का उपदेश सुना तो प्रतिबुद्ध हुई और भगवान् से निवेदन किया—

"हे भगवन् ! हम कृष्ण-वासुदेव से आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहती हैं।"

भगवान् ने कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो।"

इसके बाद पुत्र शाम पद्मावती की तरह मूलश्री और मूलदत्ता ने पूज्य श्वसुर कृष्ण-वासुदेव की अनुमति से भगवान् अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा लेकर चारित्र पर्याय का पालन किया और दोनों ने सिद्ध पद को प्राप्त किया।

अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ५, अध्ययन २ से १० तक समाप्त

इस प्रसंग पर आचार्य श्री जयमलजी महाराज ने बड़ी साधु वंदना में कहा है —

धन्य कृष्णरायनी अग्रमहिषी आठ।
पुत्र बहू दोय, संच्या पुण्यना ठाठ ।७१।
जादव कुलसतियाँ टाल्यो दुःख उचाट।
पहुँची शिवपुरमां एह छे सूत्र नो पाठ ।७२।

१२

मंकाई एवं किंकम गाथापति

बन्धुओ !

पर्युषण के पवित्र दिनो मे आपको भगवान् अरिष्टनेमि युग के अनेक राजकुमार साधको तथा राजरानी साधिकाओ का प्रेरणादायी जीवन-वृत्त सुनाया जा चुका है। अन्तगड सूत्र के प्रथम पाँच वर्गों मे उनका वर्णन समाप्त हुआ। आगे के तीन वर्ग मे भगवान् महावीर युग के उत्कट साधको का वर्णन है।

इन साधको मे तप-तितिक्षा और सरलता की अद्भुत विशेषताएँ हैं। इन्होने उत्कट तप करके जीवन स्वर्ण को चमकाया है। मुनि अर्जुनमाली, अणगार, अतिमुक्तक जैसे तपोधन तथा काली महाकाली जैसी तपस्विनी साध्वियो का वर्णन अब आपके सामने प्रस्तुत है।

भगवान महावीर के समय मे उत्तम नगरो मे अग्रणी राजगृह नगर नैसर्गिक शोभा से भी पूर्ण समृद्ध था, गिरिमालाओ से घिरे इस नगर के राजमार्ग बड़े ही विशाल और साफ-सुथरे थे। ऊँचे-ऊँचे भवन और अट्टालिकाओ से पता लगता था कि इस नगर मे धनी-मानी श्रेष्ठी और व्यापारियो का आधिक्य है। नगर के मध्य अनेक स्थानो पर सुन्दर सरोवर थे। इस प्रकार यह राजगृह व्यापार, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि अनेक दृष्टियो से इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

राजगृह मे धर्मनिष्ठ और प्रजावत्सल राजा श्रेणिक राज्य करता था। राजा का पुत्र और मंत्री अभयकुमार बड़ा ही चतुर और विचक्षण था। उसकी धर्म-पूरित राजनीति और बुद्धिमत्ता दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी।

धनी-मानी, भोगसम्पन्न श्रेष्ठियो की नगरी राजगृह मे मंकाई नाम का एक गाथापति रहता था। जो धन-धान्य से अत्यन्त सम्पन्न और अपरिभूत—किसी से भी तिरस्कृत और अपमानित न होने वाला था।

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह पधारे।[1] वे राजगृह के बाहर गुण-शीलक नामक उद्यान मे विराजमान हुए। वीर प्रभु का आगमन सुन नर-नारियो का विशाल समूह उनके दर्शन-वन्दन को पहुँचा। गाथापति मंकाई भी (भगवती सूत्र

---

1 यह प्रसंग भगवान के १६वे वर्षावास का है।

कूणिक नरेश के समान)[1] भगवान महावीर के दर्शन करने घर से चला। भगवान ने धर्म परिषद को धर्मोपदेश दिया।

धीर प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर गाथापति मकाई के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया। घर आकर मकाई ने कुटुम्ब-भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंपा और हजार सेवकों द्वारा उठाई जाने वाली पालकी में बैठ दीक्षा लेने के लिए भगवान के पास आया और दीक्षा लेकर साधु बन गया।

दीक्षा लेने के अनन्तर अनगार मकाई ने भगवान महावीर के तथारूप स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और स्कन्दक जी[2] के समान गुणरत्न संवत्सर तप का आराधन किया। सोलह वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन कर अन्त में स्कन्दक जी के समान अनगार मकाई विपुलगिरि पर संथारा करके सिद्ध हुए।

मकाई गाथापति की तरह राजगृह-निवासी किंकम गाथापति ने भी भगवान महावीर के पास संयम ग्रहण किया। उन्होंने भी तप-साधना के साथ सोलह वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर अन्त में मकाई की तरह विपुलगिरि पर संथारा करके सिद्धि गति को प्राप्त की।

अन्तकृद्दशा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १-२।

---

१ [illegible] औपपातिक सूत्र के प्रारम्भ में हुआ विस्तृत वर्णन [illegible] सूत्र [illegible] में आया है।

२ स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान महावीर के पास दीक्षा लेकर कठोर तपश्चरण किया। इसका वर्णन भगवती सूत्र २।१ में आया है।

१३

समभावी अणगार अर्जुनमाली और अभयदर्शी साधक सुदर्शन

बंधुओ !

अंतगड सूत्र के छठे वर्ग के प्रथम व द्वितीय अध्ययन में क्रमशः मकाई व किंकम अणगार का वर्णन आपने सुना, अब अर्जुनमाली का वर्णन प्रस्तुत है—

मगध देश की राजधानी राजगृह में राजा श्रेणिक का राज्य था। जन-जन को धार्मिक स्वतन्त्रता, धर्मरक्षण और स्वयं भी धर्म का पालन करके श्रेणिक नृपति ने इतिहास में अपना अक्षुण्ण स्थान बना लिया है। श्रमण भगवान महावीर ने ग्यारह चातुर्मास इसी राजगृह में बिताये। राजा श्रेणिक के चेलना, धारिणी, नन्दा, भद्रा, आदि अनेक रानियाँ थी। राजपुत्र अभयकुमार बुद्धि में साक्षात् बृहस्पति था। वह बड़ी-से-बड़ी पेचीदी समस्याओं को चुटकियों में सुलझा देता था। बुद्धिनिधान होने के कारण ही श्रेणिक ने अपने पुत्र अभय को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया था। अभयकुमार वीर प्रभु का प्रमुख श्रावक भी था। अभयकुमार के कुशल मन्त्रित्व के कारण तत्कालीन अन्य राजा भी उसकी राजनीति का लोहा मानते थे। राजगृह का व्यापार उन्नति के शिखर पर था और धर्म का तो यह केन्द्रस्थल ही था। इस प्रकार राजनीति, धर्म, व्यापार, शिक्षा, संस्कृति, दर्शन आदि सभी की दृष्टि से राजगृह की भूमिका अपना अनूठा स्थान रखती थी।

राजगृह की वास्तुशोभा और प्राकृतिक सुषमा—दोनों ही दर्शनीय थीं। ऊँचे-ऊँचे भव्य भवनों, लम्बे-चौड़े राजमार्गों और सागर से स्पर्द्धा करने वाले विशाल सरोवरों से राजगृह का वैभव बोलता-सा जान पड़ता था। चारों ओर की पर्वत-मालाओं और छोटे-बड़े अनेक उद्यानों तथा फलदार वृक्षों से इसकी नैसर्गिक शोभा भी खूब बढ़ी-चढ़ी थी। राजगृह के बाहर एक विशाल, रम्य और अत्यन्त शोभाशाली 'गुणशीलक' नामक उद्यान था। इसी गुणशीलक उद्यान में श्रमण भगवान महावीर ने अनेक बार राजगृह की जनता को धर्म का लाभ दिया था।

राजगृह की प्रजा सब भांति सुखी थी। राजगृह में हर वर्ग के लोग रहते थे। [illegible] धर्म के [illegible] और [illegible] थे। भगवान महावीर के भक्त अनेक [illegible]

स्वतन्त्र हैं। राज्य की ओर से गोष्ठी की कार्यविधि में न तो कोई हस्तक्षेप किया जायगा और उसके सदस्यों को कोई दण्ड ही दिया जाएगा।

स्वतन्त्रता में यदि विवेक भी समाविष्ट हो जाय तो वह स्व-पर दोनों के लिए वरदान बन जाती है। इसके विपरीत स्वतन्त्रता जब विवेक शून्य हो जाती है तो सबके लिए घातक होती है। ललित गोष्ठी के सदस्यों की स्वतन्त्रता भी ऐसी ही विवेक शून्य थी। गोष्ठी के सदस्य स्वच्छन्द होकर राजगृह में विचरण करते थे। मनमानी करने और मर्यादा को तोड़ने में ही वह अपनी स्वतन्त्रता को सफल मानते थे। 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' लोकोक्ति को ललित गोष्ठी के सदस्य चरितार्थ कर रहे थे।

एक दिन राजगृह नगर में एक उत्सव मनाने की तैयारी हुई। अर्जुनमाली ने सोचा कि कल चूँकि नगर में उत्सव है, इसलिए अधिक फूलों की जरूरत पड़ेगी। अत अधिक फूल तोड़ने के इरादे से वह दूसरे दिन बहुत सवेरे ही उठा और अपनी पत्नी बन्धुमती को साथ लेकर बगीचे में पहुँच गया और बन्धुमती के साथ फूल तोड़-तोड़ कर बाँसों की डलिया भरने लगा। जिस समय बन्धुमती और अर्जुन फूल तोड़ रहे थे, तभी उक्त ललित गोष्ठी के छह गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन के आयतन में गप-शप कर रहे थे। फूल तोड़कर अर्जुनमाली बन्धुमती सहित मुद्गरपाणि यक्ष प्रतिमा की पूजा करने यक्षायतन आया। अर्जुन के साथ बन्धुमती को आते देख गोष्ठी के छहों पुरुषों ने विचार किया—"मित्रो! यह अर्जुनमाली अपनी पत्नी के साथ यहाँ आ रहा है। इसकी पत्नी बड़ी सुन्दर और भोग्या है। हमें अपना काम बनाने के लिए अर्जुन की औंधी मुश्कें—दोनों हाथ पीछे करके—बाँध देनी चाहिए। इसके बाद हम उसकी पत्नी के साथ स्वच्छन्द भोग-विलास करेंगे।" ऐसा निश्चय कर छहों गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन की किवाड़ों के पीछे साँस रोक कर निश्चल खड़े हो गये।

अर्जुनमाली फूलों से भरी टोकरी लिए हुए बन्धुमती के साथ यक्षायतन में आया और भक्तिपूर्ण नेत्रों से यक्षप्रतिमा को देखा। तदनन्तर मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा के आगे पुष्पांजलि अर्पित करके धरती पर दोनों घुटने टेक प्रणाम करने लगा। उसी समय किवाड़ के पीछे छिपे छहों गोष्ठिकों ने अर्जुनमाली को पकड़ लिया और गाढ़ बन्धन में बाँध उसे एक ओर लुढ़का दिया और उसी के सामने उसकी पत्नी बन्धुमती के साथ विविध प्रकार से कुकृत्य करने लगे।

अर्जुनमाली ने अपने बन्धनों को देखा और अपनी विवशता पर आँसू बहाते हुए उसने यक्षप्रतिमा की ओर देखकर विचार किया—

"मैं बाल्यकाल से ही अपने इष्टदेव मुद्गरपाणि यक्ष की पूजा करता आ रहा हूँ। इसकी पूजा करने के बाद ही मैं आजीविका के निमित्त फूल लेकर नगर के किनारे बैठकर बेचता हूँ। आज मुझे ऐसा सन्देह होता है कि इस प्रतिमा में यक्ष है ही नहीं। यह तो मात्र काष्ठमय और जड़ है। मैं व्यर्थ ही इस लक्कड़-ढकोसले की पूजा करता रहा। यदि वास्तव में इस मूर्ति में इसका अधिष्ठाता यक्ष होता तो मुझे (अपने भक्त को)

लोग बहुत दिनों तक स्वेच्छा से नगर से बाहर जाते भी न थे, पर अर्जुनमाली के भय की पाबन्दी से राजगृह के लोगों की साँसें घुटी-घुटी-सी चलती थीं, उन्हें अपना घर कारागार की कोठरी-सा मालूम पड़ता था।

× × ×

राजगृह में सुदर्शन नाम के एक श्रेष्ठी रहते थे। सेठ सुदर्शन ऋद्धि सम्पन्न, अपरिभूत, श्रमणोपासक तथा जीवाजीवादि नव तत्त्वों के ज्ञाता थे। धर्म में उनकी बहुत अगाध श्रद्धा थी।

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह में पधारे। नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में वीर प्रभु विचरण करने लगे। उनके आने का समाचार नगर भर में फैल गया। राजगृह में अनेक श्रावक, धर्मप्रेमी और श्रद्धालु रहते थे। समूची प्रजा ही भगवान महावीर का दर्शन पाना अपना अहोभाग्य समझती थी। जब भी भगवान महावीर पधारते, राजगृह की जनता नदी की तरह उमड़ कर गुणशीलक उद्यान में पहुँचती थी। लेकिन आज तो बात ही दूसरी थी। सब के सब मन मसोस कर रह गए थे। अर्जुनमाली के हिंसक आतंक ने सब श्रद्धालुओं के पैरों में बन्धन डाल दिये थे।

प्रभु के आगमन पर राजगृह के स्त्री-पुरुष यत्र-तत्र चर्चा कर रहे थे—

"हे भाई! श्रमण भगवान महावीर यहाँ पधारे हैं। उनके नाम-गोत्र के श्रवण का भी महाफल होता है। उनके दर्शन करने, वाणी सुनने तथा उनके द्वारा प्ररूपित अर्थ ग्रहण करने से जो फल होता है, उसका तो कहना ही क्या है, वह तो निस्सन्देह अवर्णनीय है।"

इस प्रकार यत्र तत्र लोगों की चर्चा से सेठ सुदर्शन ने भी वीर भगवान के आगमन का शुभ संवाद जाना। उसने अपने मन में विचार किया—'मेरा कितना अहोभाग्य है कि भगवान महावीर राजगृह के गुणशीलक उद्यान में पधारे हैं। मुझे उनके दर्शन करने जाना चाहिए।' ऐसा विचार कर सेठ सुदर्शन अपने माता-पिता के पास पहुँचे और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगे—

"हे माता-पिता! श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में पधारे हैं, इसलिए मैं उन्हें वन्दन-नमस्कार करने जाना चाहता हूँ।"

सुदर्शन की इस अप्रत्याशित इच्छा को जानकर उसके माता-पिता ने कहा—
"एवं खलु पुत्ता! अज्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरइ। तं मा णं तुमं पुत्ता! समणं भगवं महावीरं वंदए निग्गच्छाहि। मा णं तव सरीरयस्स वावत्ती भविस्सइ। तुमं णं इहगए चेव समणं भगवं महावीरं वंदाहि णमंसाहि।"

"हे पुत्र! अर्जुनमाली राजगृह नगर के बाहर मनुष्यों को मारता हुआ घूम रहा है। इसलिए हे पुत्र! तुम प्रभु-वन्दन के लिए नगर से बाहर मत जाओ, यहीं से भगवान को भाव वन्दना कर लो। भगवान तो भाव के भूखे हैं। पता नहीं, अर्जुनमाली तुम्हारे शरीर को क्या हानि पहुँचा दे।"

माता-पिता की इस वाणी को सुनकर सुदर्शन ने कहा—

"हे माता-पिता! जब श्रमण भगवान महावीर यहाँ पधारे हैं, यहाँ विराजित हैं और यहाँ समवसृत हैं, फिर भी मैं उनको यहीं से वन्दन-नमस्कार करूँ, उनकी सेवा में न जाऊँ, यह कैसे हो सकता है? मैं भगवान के दर्शन करने जाना चाहता हूँ, इसलिए आप मुझे अनुमति दीजिए। मैं प्रभु के निकट जाकर उनको वन्दन-नमस्कार और उनकी पर्युपासना करूँगा।"

नगर के बड़े-बड़े धर्मप्रेमी-श्रद्धालु गुणशीलक उद्यान जाने का साहस नहीं कर पा रहे थे। इसलिए पुत्रमोह से वशीभूत सुदर्शन के माता-पिता ने उसे अनेक युक्तियों से समझाया, पर सुदर्शन तो दृढ़धर्मी था। जब उसने अपना आग्रह न छोड़ा तो उसके माता-पिता ने अनिच्छापूर्वक अनुमति देते हुए कहा—

"हे पुत्र! [जब हमारी बात तुम्हारे गले नहीं उतरती तो] जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

इस प्रकार माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर सुदर्शन सेठ ने स्नान किया। स्वच्छ-शुद्ध वस्त्र धारण किये और भगवान महावीर के दर्शन करने अपने घर से निकले। वे राजगृह के मध्य होते हुए पैदल ही चले और मुद्गरपाणि यक्ष के यक्षायतन से न अधिक दूर तथा न अधिक निकट—गुणशीलक उद्यान की ओर जाने लगे। अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट मुद्गरपाणियक्ष ने अपनी ओर आते हुए श्रमणोपासक सुदर्शन को देखा तो उसकी क्रूर हिंसा वेग पूर्वक मुद्गर को घुमाते हुए सुदर्शन को अपने निकट आने की बेताबी से प्रतीक्षा करने लगी।

हिंसा के पथ में अभय का दर्शन करते हुए सुदर्शन निर्भीक भाव से आगे बढ़े चले जा रहे थे। राजगृह के नर-नारी कोट के बुर्ज से जाते हुए सुदर्शन को भय, दुःख, चिन्ता और कुतूहल से देखने लगे। वे सब अपने-अपने घरों की छत से हिंसा-अहिंसा का मिलन बड़ी उत्सुकता से देखने के लिए व्यग्र थे।

आज अहिंसा हिंसा का मुकाबला करने जा रही थी अथवा प्रेम द्वेष को पराजित करने जा रहा था। आज तक ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं कि हिंसा अहिंसा को पराजित कर पायी हो।

शौर्य और वीर्य शरीर में नहीं होता, आत्मा में होता है। यदि शरीर बल में ही वीरत्व होता तो बड़े-बड़े सुभट राजगृह में ही न बैठे रहते—अर्जुनमाली से भयभीत न होते। आत्मा की अहिंसा और क्षमा में जो तत्त्व या वीरत्व है। यहाँ भी करुणा से ही शौर्य प्रकाशित होता रहता है। आत्मा की वीरता का मापदण्ड 'कितनों को मारा' से नहीं आँका जाता; बल्कि 'कितनों को अभय दिया' इसी बात पर आँका जाता है। बड़े-बड़े पराक्रमी योद्धा मौत का नाम सुनते ही काँपने लगते हैं, पर जिनके आत्मबल होता है, वे [illegible] मृत्यु के क्रूर रूप को देखकर भी हँसते रहते हैं। यही सच्चा शौर्य है और सेठ सुदर्शन ऐसा ही अभयदानी

वीर था। अहिंसात्मक आचरण का प्रभाव स्थूल रूप में रोज हमारे सामने आता है। उफनता हुआ दूध ठंडे जल के चन्द छींटों से बैठ जाता है। दहकते लाल लोहे को ठंडे लोहे की छैनी यों ही काट देती है। इन स्थूल उदाहरणों के आधार पर भी यदि कहा जाय तो अर्जुनमाली उफनता हुआ दूध अथवा गरम लोहा था और अभयदर्शी सुदर्शन शीतल जल अथवा ठंडे लोहे का प्रतीक था।

अर्जुनमाली कुपित होकर एक हजार पल भार का मुद्गर लिये सुदर्शन की ओर आने लगा। मुद्गरपाणि यक्ष को अर्जुनमाली के रूप में अपनी ओर आता हुआ देखकर सुदर्शन को तनिक भी भय, त्रास, दुःख, चिन्ता, उद्वेग और क्षोभ नहीं हुआ। उन्होंने वहीं सथारा लेने का निश्चय किया। सुदर्शन ने अपने उत्तरीय के अचल से भूमि का प्रमार्जन किया और मुख पर उत्तरासंग धारण किया। तदनन्तर पूर्व दिशा की ओर मुंह करके बाएं घुटने को ऊंचा किया और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अजलि-पुट रखा और फिर अपने सकल्प को इस प्रकार दुहराया—

णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताण जाव संपत्ताण

"जो अरिहन्त भगवान मोक्ष को पधार गए हैं, मैं उन अरिहन्तों को नमस्कार करता हूँ और जो मोक्ष में पधारने वाले हैं, उन भगवान महावीर को भी नमस्कार करता हूँ। मैंने पहले भगवान महावीर स्वामी से स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद और स्थूल अदत्तादान का त्याग किया था। स्वदार-संतोष और इच्छा-परिमाण (स्थूल परिग्रह त्याग) अणुव्रतों को धारण किया था। अब इस समय उन्हीं भगवान महावीर की साक्षी से यावज्जीवन प्राणातिपात का सर्वथा त्याग करता हूँ। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ और क्रोध, मान, माया तथा लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पापों का यावज्जीवन के लिए सर्वथा त्याग करता हूँ। अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

"यदि मैं इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो त्याग पार लूँगा, अन्यथा उपर्युक्त त्याग यावज्जीवन के लिए है।"

ऐसा दृढ़ निश्चय कर सेठ सुदर्शन ने सागारी अनशन धारण कर लिया। इधर मुद्गर घुमाता हुआ क्रूर अर्जुनमाली कायोत्सर्ग में लीन सुदर्शन सेठ के समीप आ गया, पर उसका पशुबल और हिंसा श्रमणोपासक सुदर्शन का कुछ न बिगाड़ सकी। सुदर्शन की शान्त-सौम्य मुद्रा में ध्यानावस्थित देख यक्षाविष्ट अर्जुन का आवेश उसी प्रकार ढीला पड़ गया, जैसे पानी पड़ने से बालू का ढेर बैठ जाता है। अर्जुनमाली सुदर्शन के चारों ओर घूमा, पर अपने बल का किंचित् भी प्रभाव नहीं दिखा सका और सुदर्शन के सामने आकर शान्त हो गया। तथा बहुत देर तक अपलक दृष्टि से उन्हें देखता रहा।

णिरविखासा सब्बुणयाए मासागारस्स सरीर विप्पजहइ।

गुणशीलक उद्यान में विशाल जनसमूह के मध्य अर्जुनमाली ने सुदर्शन के साथ महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार किया और सभा के मध्य बैठ गया। भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई। प्रभु की धर्मकथा सुन श्रोता आत्मविभोर हो गए। धर्म-कथा सुनकर सुदर्शन तो अपने घर चले गये और अर्जुनमाली ने हाथ जोड़कर प्रभु से कहा—

हे भगवन्! आपके द्वारा कही हुई धर्मकथा सुनकर मुझे उस पर अपार श्रद्धा हुई है। मैं निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर श्रद्धा करता हूँ। अतः हे प्रभो! मैं आपसे दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।"

अर्जुनमाली की ऐसी इच्छा सुनकर भगवान ने कहा—

"हे देवानुप्रिय! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

भगवान की अनुमति मिलते ही अर्जुनमाली ईशानकोण में गये और स्वयमेव पंचमुष्टि लोच करके अनगार बन गए और फिर भगवान को वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार अभिग्रह धारण किया—

"मैं यावज्जीवन अन्तर रहित बेले-बेले की पारणा करता हुआ और तपस्या द्वारा अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरूँगा।"

ऐसा अभिग्रह लेकर अनगार अर्जुन बेले-बेले की पारणा करते हुए विचरने लगे। बेले के पारणे के दिन उन्होंने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर में ध्यान किया और तीसरे प्रहर में गोचरी के लिए राजगृह नगर में गए। अनगार अर्जुन ऊँच-नीच मध्यम कुलों में गृह सामुदायिक भिक्षा के लिए फिर रहे थे। अर्जुन अनगार को गोचरी के लिए घूमते देख राजगृह के स्त्री-पुरुष, बच्चे आदि इस प्रकार कहने लगे—

"इसी ने मेरी माँ को मारा है। इसने मेरे पिता को मारा। इसने मेरा भाई मारा। अरे अरे! इसने मेरा पुत्र और पुत्रवधू दोनों मारे।"

इस प्रकार लोग अर्जुनमाली का तिरस्कार करने लगे। द्वेष, घृणा और उसके द्वारा स्वजनों के मारे जाने के दुःख से दुःखी होकर अर्जुन अनगार को कटुवचन कहने लगे। उनका रोष यहाँ तक उभरा कि लाठी, ईंट, पत्थर और थप्पड़ों से उन्हें मारने लगे। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों और बच्चों से ताड़ित-प्रताड़ित और अपमानित अर्जुन अनगार किसी पर भी मन में द्वेषभाव नहीं लाते और उनके दिये हुए आक्रोश आदि परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने लगे। अर्जुन अनगार समभाव धारण कर और रोष-भाव से रहित मध्यस्थ भावना में विचरने लगे तथा निर्जरा की भावना से सभी उपसर्ग-परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने लगे। उनके विचारों में भगवान महावीर का यही उपदेश निरंतर गुंजित हो रहा था—

अक्कोसेज्जा परे भिक्खू न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥

दिन मे ११४१ मनुष्य एव स्त्रियो की घात कर डाली, वह क्रूर मानव आज कितना उदार और कितना सहनशील बन गया। उसने क्रोध, मान, माया, लोभ चारो कषायो को जीत लिया।

अर्जुन अनगार उत्कृष्ट समभावी थे। किसी की गाली-गलौज और दुर्वचन उनको विचलित नहीं कर पाते थे। थप्पड-घूंसे ईंट-पत्थर खाने पर भी वे समभाव मे लीन रहते थे। हिंसक मानव क्षमा, प्रेम और अहिंसा की मूर्ति बन गया। जब अनगार अर्जुन गोचरी के लिए घूमते तो ऐसा लगता था कि महावीर स्वामी का धर्म-सदेश साक्षात् रूप धरकर घूम रहा है।

इस प्रकार अभयदर्शी श्रमणोपासक सुदर्शन और उत्कृष्ट समभावी साधक अर्जुन अनगार दोनो के चरित्र आदरणीय और अनुकरणीय हैं।

अतगडदसा सूत्र वर्ग ६, अध्ययन ३ समाप्त

☆

साकेत नगरी के रहने वाले कैलास नामक गाथापति ने महावीर स्वामी से दीक्षा अंगीकार की और बारह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की।

साकेत नगरी के ही निवासी हरिचन्दन गाथापति ने भी बारह वर्ष तक चारित्र का पालनकर विपुलगिरि पर सिद्धत्व प्राप्त किया।

वाणिज्य ग्राम के रहने वाले गाथापति सुदर्शन ने धुतिपलाश उद्यान में विराजमान भगवान महावीर से दीक्षा अंगीकार की और पांच वर्ष तक श्रमण-संयम का पालन कर विपुलगिरि पर मोक्ष प्राप्त किया।

इसी प्रकार वाणिज्य ग्राम निवासी पूर्णभद्र ने पांच वर्ष तक संयम पालन किया, श्रावस्ती नगरी के सुमनभद्र गाथापति ने भी अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन किया, श्रावस्ती नगरी के ही निवासी सुप्रतिष्ठ गाथापति ने सत्ताइस वर्ष तक संयम का पालन किया तथा राजगृह नगर के गाथापति मेघ ने भी अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन किया। इस प्रकार पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठ और मेघ गाथापति ने चारित्र पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धगति प्राप्त की।

अंतगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन ४ से १४ तक समाप्त

☆

एक बार पोलासपुर नगर के बाहर श्रमण भगवान महावीर श्रीवन उद्यान में पधारे। गौतम स्वामी भगवान महावीर के प्रथम और ज्येष्ठ गणधर थे। गौतम स्वामी चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार आर्याओं के संघ-संचालक और प्रमुख थे। किन्तु इतने पर भी उनमे असाधारण सादगी थी। वे अपना हर कार्य स्वयं ही करते थे। बेले-बेले की तपस्या के अनन्तर पारणे के लिए स्वय ही झोली लिये ऊँच-नीच, मध्यम कुलो से भिक्षा के लिए घूमते। जब वे भगवान महावीर स्वामी के साथ पोलासपुर नगर के श्रीवन उद्यान मे आये तो भिक्षा का समय होने पर प्रभु की अनुमति ले भिक्षा के लिए पोलासपुर नगर मे आये और भिक्षा के लिए भ्रमण करने लगे।

उसी समय राजकुमार अतिमुक्तक स्नानादि करके वस्त्रालकार धारण कर अपने समवयस्क बालक-बालिकाओं के साथ क्रीडाभूमि मे अनेक खेल खेलने लगा। उन दिनो क्रीडास्थल को इन्द्रस्थान कहते थे। सभी बच्चे खेल-कूद में मग्न थे। कुमार राजपुत्र थे, फिर भी साधारण बच्चो के साथ खेल रहे थे। उनके मन मे केवल बचपन और बालक होने का आभास था। बाल मनोविज्ञान के अनुसार बच्चे सब बराबर हैं। क्रीडास्थल पर न कोई श्रेष्ठि पुत्र है, न राजपुत्र और न सेवक का लडका। बचपन मे जब श्रीकृष्णचन्द्र अपने साथियो के साथ खेल रहे थे तो हार-जीत के प्रश्न को लेकर बिगड गए, तभी एक साथी ने कहा—

"खेलत मे को काको गोसैंया।

अति अधिकार जनावत यातें, हैं कछु अधिक तुम्हारे गैया।"

हे कृष्ण ! खेलने मे कोई किसी का स्वामी या बडा नही होता—सब बराबर होते हैं। तुम्हारे यहा कुछ गायें हम से अधिक है, इसलिए अति अधिकार दिखाते हो—रौब मारते हो ? कृष्ण फिर सब मे हिल-मिलकर खेलने लगे। बचपन के खेल की तरह यह जीवन भी एक खेल है। इसमें सभी खिलाडी हैं, कोई जरा होशियार खिलाडी है, वह बाजी जीत लेता है, कोई जरा कमजोर और ढीला है वह खेल हार जाता है।

—यहाँ अतिमुक्तक कुमार भी प्रजा-बालको के साथ हिल-मिलकर खेल रहा था। उसी समय गौतम स्वामी इन्द्रस्थान (क्रीडा-स्थल) के पास से गुजरे। सभी बच्चो ने गौतम स्वामी को देखा। पर देखा-अनदेखा करके अपने खेल में ही डूबे रहे। अति-मुक्तक कुमार ने भी गौतम स्वामी को देखा और देखता ही रह गया। दूध के समान श्वेत वस्त्र, मुख पर तप का तेज और शान्ति का साम्राज्य। ऐसा अद्भुत रूप उसने पहली बार ही देखा था। वह उनसे इतना प्रभावित हुआ कि क्रीडास्थल से चुपचाप खिसक आया और प्यासे नेत्रो से गौतम स्वामी को देखने लगा और फिर जब उसकी नेत्र-तृष्णा तृप्त हुई तो बोला—

के ण भंते ! तुब्भे, किं वा अडह ?

"भगवन् ! आप कौन हैं और क्यो घूम रहे हैं ?"

बच्चे के भोले-सरल प्रश्न पर गौतम स्वामी मुग्ध हो गए। उन्होंने बालक से कहा—

"हे देवानुप्रिय! हम श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं। हम ईर्या-समिति आदि पाँच समितियो से युक्त पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं और ऊँच-नीच, मध्यम कुलो मे भिक्षा के लिए गोचरी करते हैं। इस समय मैं तुम्हारे शहर में भिक्षा के लिए घूम रहा हूँ।"

संस्कारी बालक अतिमुक्तक कुमार के मन मे दान देने की भावना हिलोरें लेने लगी। उसने गौतम स्वामी की उँगली पकड ली और मचलते हुए कहा—

एह णं भंते। तुब्भे जण्णं अहं तुब्भं भिक्खं दवावेमि त्ति कट्टु भगवं गोयमं अंगुलिए गिण्हइ, गिण्हित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागए।

"आप मेरे साथ चलें। मैं अपनी माँ से आपको भिक्षा दिलवाऊँगा।"

उँगली पकड़े आगे-आगे राजकुमार अतिमुक्तक चल रहा है और पीछे-पीछे गौतम स्वामी ऐसे चल रहे हैं, मानो उन्हे अपने गन्तव्य का मार्ग मालूम नही है और यह बालक मार्ग दिखाता आगे-आगे चल रहा है।

अतिमुक्तक ने एक बार भी यह न सोचा कि मेरी माँ ने इन्हे भिक्षा न दी तो क्या होगा? सोचता भी क्यो, माँ का नित्य व्यवहार और माँ के डाले हुए सस्कारो ने ही तो अतिमुक्तक से गौतम स्वामी की उँगली पकडवायी थी। वह नित्य देखता था कि मेरी माँ मुक्तहस्त से दान करती है, दान देने मे उसे बडी खुशी होती है। गौतम स्वामी को घर ले जाने मे उसका एक उद्देश्य माँ को प्रसन्न करना भी तो था।

इस तरह उँगली पकड कर जाते हुए भले ही श्रमण-आचार मर्यादा का उल्लघन किया। लेकिन गौतम स्वामी इसमें भी एक भव्यात्मा का कल्याण देख रहे थे। क्योकि कुछ मर्यादाएँ देश-काल परिस्थिति से बदलती भी हैं। मर्यादा आचार निर्वाह के लिए है। इस समय उनके मन मे बच्चे की भावना प्रधान थी। अगर वे बच्चे के हाथ से उँगली छुडा लेते तो उसका कोमल हृदय टूटकर चूर-चूर हो जाता, दान देने की जो उच्च भावना उसके हृदय में आई थी, वह मर जाती और श्रमणो के विषय मे पता नहीं वह कैसी प्रतिकूल धारणा बना लेता। इसलिए वे अतिमुक्तक को उँगली पकडाये बढ़े चले जा रहे थे।

इसी प्रसंग मे तथागत गौतम बुद्ध के जीवन की एक घटना का भी उल्लेख है। एक बार गौतम बुद्ध भिक्षापात्र लिये घूम रहे थे, तभी खेलते बालकों के झुण्ड मे से एक बालक मुट्ठी मे धूल लिये तथागत के पात्र मे डालने को बढ़ा। पास खड़े लोगो ने बालक को डाँटा—"ठहरो! यह क्या करते हो?" तथागत ने लोगो को रोक दिया। बच्चे को देख उन्होंने अपना भिक्षापात्र बालक के आगे कर दिया और बालक उनके पात्र मे धूल डालकर बडा प्रसन्न हुआ, वह तालियाँ बजाता हुआ, फिर खेल में लग गया। गौतम बुद्ध ने पास खड़े लोगो से कहा—

"बालक में देने का संकल्प उत्पन्न हुआ। यदि मैं धूल की भिक्षा नहीं लेता तो उसमे देने की जो वृत्ति जाग्रत हुई थी, वह कुचल जाती—बच्चा निराश व दुःखी हो जाता। उसमे जो 'वस्तु' देने का संकल्प उठा है, उसमें सुधार किया जा सकता है, अर्थात् धूल न देकर अन्न देने की भावना उसके मन में बिठाई जा सकती है।"

महापुरुष मात्र शरीर ही नही देखते, व्यवहार के कलेवर मे ही नहीं बँधे रहते, बल्कि उसकी आत्मा का भी अध्ययन करते हैं। गौतम स्वामी ने अतिमुक्तक कुमार से उँगली न छुड़ाकर यही किया था।

गौतम स्वामी की उँगली पकड़े हुए अतिमुक्तक कुमार उन्हे अपने घर ले गया। गौतम स्वामी को देख राजरानी श्रीदेवी अत्यन्त प्रसन्न हुई। आसन से उठकर वह सात-आठ चरण सामने आयी और फिर तीन बार विधिवत् गौतम स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। फिर भक्तिभाव पूर्वक उन्हें रसोई घर मे ले गई और अशन, पान, खादिम, स्वादिम—चारो प्रकार का आहार बहराया और फिर उन्हें भवनद्वार तक पहुँचाने आई। अतिमुक्तककुमार गौतम स्वामी के साथ द्वार के बाहर तक आया और उनसे पूछने लगा—कहिण भंते ! तुब्भे परिवसह ?

"भगवन् ! आप कहाँ रहते हैं ?"

गौतम स्वामी ने कहा—

"देवानुप्रिय ! मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक धर्म की आदि के करने वाले यावत् मोक्ष के कामी श्रमण भगवान महावीर इस पोलासपुर नगर के बाहर श्रीवन उद्यान मे कल्पानुसार अवग्रह लेकर तप संयम से आत्मा को भावित करते हुए विराजते हैं। मैं वही, उन्ही के पास रहता हूँ।"

अतिमुक्तककुमार की इच्छा हुई कि मैं भी भगवान के दर्शन करूँ। उसने गौतम स्वामी से पूछा—गच्छामि ण भंते ! अहं तुब्भेहिं सद्धि समण भगवं महावीरं पायवदए ?

"हे भगवन ! मैं भी आपके साथ चलना चाहता हूँ। और भगवान महावीर को वन्दना करना चाहता हूँ। क्या आप मुझे अपने साथ ले चलेंगे ?"

गौतम स्वामी ने कहा—

"हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

गौतम स्वामी की सहज सुलभ स्वीकृति प्राप्त कर अतिमुक्तककुमार उनके साथ चल दिया और श्रीवन पहुँचकर श्री महावीर स्वामी की तीन बार वन्दना कर उपासना करने लगे। गौतम स्वामी ने भी वन्दन-नमस्कार कर भगवान को आहार दिखाया और आहार-पानी लेकर संयम-तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। भगवान महावीर ने अतिमुक्तक को धर्मकथा सुनाई। भगवान के श्रीमुख से धर्मकथा सुन अतिमुक्तक प्रफुल्लित होकर इस प्रकार बोला—

"हे प्रभो ! मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

भगवान ने कहा—

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह—अर्थात् हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, पर धर्मकार्य मे प्रमाद मत करो।"

प्रभु ने बन्धन रहित और बन्धन मुक्त करने वाली आज्ञा अतिमुक्तक को दी। अतिमुक्तककुमार पोलासपुर नरेश विजयसिंह और रानी श्रीदेवी के समक्ष उपस्थित हुआ और माता-पिता के दोनो हाथ जोड कर इस प्रकार कहने लगा—

"हे माता-पिता ! आपकी आज्ञा होने पर मैं भगवान महावीर स्वामी से दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

अतिमुक्तक की ऐसी अप्रत्याशित और अनपेक्षित इच्छा सुनकर राजा-रानी अवाक् रह गये। उन्होंने कभी सोचा भी न था कि इस उम्र मे अतिमुक्तक को वैराग्य हो जायगा। उन्होंने पुत्र को समझाते हुए कहा—

बाले सि ताव तुमं पुत्ता !
असंबुद्धोसि तुमं पुत्ता !
किण्ण तुम जाणासि धम्मं !

"हे पुत्र ! तुम अभी नादान बच्चे हो, तुम्हें तत्त्वो का ज्ञान नहीं है। हे पुत्र ! तुम धर्म को कैसे जान सकते हो ?"

बालक होते हुए भी अतिमुक्तक की आत्मा जाग चुकी थी। भगवान महावीर की अमृत वाणी ने उसे जानकार भी बना दिया था। अत अतिमुक्तक ने अपने माता-पिता से विवेकपूर्ण और विनययुक्त वाणी मे कहा—

जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि
जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि

"हे माता-पिता ! मैं जिसे जानता हूँ, उसे नही जानता और जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूँ।"

अतिमुक्तक की यह पहेली उसके माता-पिता की समझ मे नहीं आई। उन्होंने पूछा—

"हे पुत्र ! तुम्हारे इस विरोधी कथन का अर्थ हमारी समझ मे नहीं आया। समझाकर कहो।"

अतिमुक्तक कुमार ने बताया—

'हे माता-पिता मैं यह जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा, 'जहा जाएणं अवस्सं मरियव्वं।'

किन्तु यह नहीं जानता कि वह किस काल, किस स्थान, किस प्रकार और कितने समय बाद मरेगा। इस प्रकार मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता। इसी प्रकार मैं यह नहीं जानता कि किन कर्मों से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवयोनि में उत्पन्न होते हैं, परन्तु यह अवश्य जानता हूँ कि सभी जीव अपने ही कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए मैं जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूँ। इसलिए हे माता-पिता! आपकी आज्ञा होने पर मैं श्रमण भगवान महावीर के पास दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

जब अतिमुक्तक के माता-पिता किसी भी युक्ति से उसे संयम-पथ से विमुख न कर सके तो हार कर बोले—

"पुत्र! दीक्षा लेने से पहले कम-से-कम एक दिन तो राजसिंहासन पर बैठकर हमें अपनी राज्यश्री दिखा दो। हमारी आँखों को तृप्त कर दो!"

अतिमुक्तक सहमत हो गया। माता-पिता ने महाबल के समान अतिमुक्तककुमार का राज्याभिषेक किया। राजा के रूप में माता-पिता ने कुमार से पूछा—

"राजन्! हमारे लिए आपकी क्या आज्ञा है?"

कुमार ने कहा—

"मेरी दीक्षा का प्रबन्ध करो।"

समारोहपूर्वक अतिमुक्तककुमार दीक्षित हो गये और भगवान महावीर के शिष्य बन गये।

जल में नाव

बचपन के वैराग्य में संस्कार प्रधान होता है और ज्ञान गौण। अनगार अतिमुक्तक भी संस्कारी वैरागी थे, ज्ञानार्जन के द्वार पर तो अभी उन्होंने कदम ही रखा था। एक बार वे स्थविर मुनियों के साथ शौच के लिए गये। शौच से निवृत्त होकर वे जलाशय के पास आये और बालसुलभ चपलता के कारण पानी को एक मिट्टी की पाल से बाँधकर अपना पात्र पानी में नाव की तरह तैराने लगा। जब अन्य मुनि लौटकर आये तो ताली बजाकर नाव तैराने का तमाशा दिखाने लगा। उसकी इस चंचलता-चपलता को देख मुनिगण बड़े क्षुब्ध हुए और बालसाधक अतिमुक्तक को डाँटते हुए बोले—

"अरे मुग्ध! तू इस प्रकार खेल करके असंख्य जीवों की हत्या करके खुश हो रहा है?"

अतिमुक्तक मुनि कठोर वचन सुनकर सहम गया। डरकर उसने [illegible] पात्र को झोली में रख लिया और चुपचाप मुनियों के साथ हो लिया। मुनि लोग रास्ते में भी उसके व्यंग्य वचन कहते हुए आ रहे थे। उन्हें क्या पता था कि खेल-खेल में नाव तैराने वाला एक दिन इस भवसागर से पार हो जायगा। अतिमुक्तक को मुनियों की बात बुरी नहीं लगी। वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रहा था।

[illegible] के मन में अनेक प्रकार के विचार आने लगे। सोचा—यह छोटा [illegible]

अभी संयम मार्ग को क्या जाने ? ऐसे ही साधु बन गया। फिर उनके मन मे शंका हुई, अगर यह इसी प्रकार संयम मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करता रहेगा तो कैसे अपनी साधना मे सफल होगा ? वे वृद्ध स्थविर श्रमण भगवान महावीर की सेवा मे उपस्थित हुए, वन्दना करके पूछने लगे—

एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे।

से णं भंते ! अइमुत्तेकुमारसमणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहिइ जाव अंतं करेहिइ ?[1]

भंते ! आपका यह अन्तेवासी अतिमुक्तककुमार श्रमण कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होगा ?

सर्वज्ञ प्रभु ने स्थविरो के मन की बात जानली। भगवान ने कहा—हे आर्यो ! मेरा बाल शिष्य अतिमुक्तककुमार श्रमण प्रकृति से बडा भद्र है, सरल है, विनीत है वह इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करेगा।"

फिर प्रभु ने कहा—

"आप लोग जरा-सी बात पर विचलित हो गये ? इस बालक की आत्मा इतनी जाग्रत है कि यह इसी जन्म में मोक्ष-लाभ करने वाला है। यद्यपि इसने भूल की है, पर इसकी यह भूल उपहास करने के काबिल नही है, उसे प्रेम से मार्ग दिखाना चाहिए। श्रमणो ! तुम उसकी हीनता, निन्दा और अवहेलना मत करो ! वह चरमशरीरी है। उसकी अवमानना मत करो ! किन्तु अग्लान भाव से, वात्सल्य पूर्वक, आहार से, पानी से, उसकी वैयावृत्य करो, उसका विनय करो, उसका संग्रह करो—प्रेमपूर्वक निकट रखो।"

इस प्रसंग मे यह बात बडी ही उल्लेखनीय है कि एक ओर तो बाल साधु, श्रमण मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करता है, दूसरी ओर स्थविर उसको कडी चेतावनी देते हैं, किन्तु सर्वज्ञ प्रभु उल्टे स्थविरो को ही उसकी सेवा, भक्ति और विनय करने की शिक्षा फरमाते हैं।

यहाँ पर जैनदर्शन का 'भविष्य द्रष्टा' स्वरूप उजागर होता है, वह व्यक्ति की वर्तमान प्रमत्त दशा की अपेक्षा उसकी आत्मा की विराट चेतना को महत्व देता है उसके उज्ज्वल भविष्य को देखता है। भविष्य मे वह महान बनने वाला है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनने वाला है, आज वह बालक है तो क्या कल यही बालक सर्वज्ञ अरिहन्त बनेगा।

दूसरी बात भगवान महावीर के बाल-मनोविज्ञान की भी है। वे किसी अज्ञ व बाल भाव मे भोहदशा प्राप्त बालक के हृदय को हीनता-निन्दा खिन्नता मे तोड देना

---

१ भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४।

नहीं चाहते। हीलना से उसका उत्साह ही मर जायेगा। सम्भव है साधुओं से, स्थविरों से वह भयभीत हो जाए, नफरत ही करने लगे और सेवा मार्ग से दूर भाग जाय। इसलिए उसे घृणा की बजाय प्रेम और वात्सल्य देना चाहिए। जो कार्य प्रेम की पुचकार से हो सकता है, वह नफरत की फटकार से कभी नहीं होता। अस्तु,

भगवान के वचन सुनकर सभी स्थविर मुनियों ने अपने कार्य की आलोचना की और प्रभु की वन्दना कर अतिमुक्तककुमार श्रमण को खमाने लगे। उसकी विनय-भाव पूर्वक सेवा-सुश्रूषा करने लगे।[1]

इधर बालमुनि अतिमुक्तक भी साधना में जुट गये—ज्ञान, सेवा और तपस्या की त्रिवेणी में अवगाहन करने लगे। मुनि अतिमुक्तक ने सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया और फिर तन-मन अर्पण करके स्थविर मुनियों की सेवा में जुट गए और फिर अन्त में तपस्या की तो ऐसी की, अपने को कुन्दन बना डाला। उन्होंने गुणरत्न संवत्सर तप[2] की कठोर आराधना की और संथारा करके विपुलगिरि पर सिद्धत्व प्राप्त किया।

बाल साधक अतिमुक्तक ने खेल-खेल में ही गौतम स्वामी की उँगली पकड़ी थी और साधना-पथ में भी एक दिन पानी में नाव तैराने का खेल किया था। पात्र की नाव तैराने का नाटक करने वाले अतिमुक्तक ने अपनी नौका भी संसार-सागर को पार कर किनारे लगा ली।

अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १५ समाप्त

---

१ अस्तु, गौतम स्वामी का यह सम्पूर्ण प्रसंग अन्तगडदशा सूत्र में नहीं है। भगवती सूत्र ५/४ में इसका वर्णन है।

२ गुणरत्न संवत्सर तप का वर्णन परिशिष्ट २ में देखें।

१६

वाराणसी नरेश महाराज अलक्ष का मोक्षलाभ

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले वाराणसी नगरी मे अलक्ष नामक राजा राज्य करता था। वाराणसी नगर के बाहर महाकामवन नामक बहुत सुन्दर उद्यान था। एक बार तीर्थंकर-परम्परा का पालन करते हुए श्रमण भगवान महावीर वाराणसी नगरी पधारे और नगर के बाहर महाकामवन मे विराजमान हुए। प्रभु का आगमन सुन नगरी की जनता उनकी धर्मसभा मे पहुंची, राजा अलक्ष भी और प्रभु के दर्शन-वन्दन करने गया। कोणिक राजा के समान भगवान महावीर को वन्दन-नमस्कार कर उनकी सभा मे बैठ गया। भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई।

धर्मकथा सुनकर राजा अलक्ष के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। प्रतिबुद्ध राजा ने उदायन राजा के समान भगवान के पास दीक्षा अंगीकार कर ली। राजा उदायन ने अपने भानजे को राजमुकुट सौंपा था और राजा अलक्ष ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य शासन सौंपा था। मुनि अलक्ष ने ग्यारह अंगो का अध्ययन किया और अनेक वर्षों तक चारित्र-पर्याय का पालन करके विपुलगिरि पर सिद्ध गति प्राप्त की।

अन्तगडदसा सूत्र का यह छठा वर्ग समाप्त हुआ।

अन्तगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १६

☆

१७

त्रयोदस रानियों की दीक्षा

बन्धुओ !

अन्तगड सूत्र के छः वर्ग का वाचन आपके समक्ष किया जा चुका है, अब सातवाँ वर्ग प्रारम्भ हो रहा है। ७-८ इन दो वर्गों मे महाराज श्रेणिक की २३ रानियो की दीक्षा एवं तपस्या का रोचक वर्णन है। इस वर्णन से यह ध्वनित होता है कि आत्म-साधना एवं तपस्या का पथ पुरुषों के लिए ही नही नारियो के लिए भी सदा खुला रहा है। पुरुष की भाँति स्त्री भी साहस, धैर्य और कठोर संकल्प के साथ इस पथ पर बढ़ी है। चाहे भगवान आदिनाथ का युग रहा हो, चाहे नेमिनाथ का युग रहा हो, या भगवान महावीर का युग। स्त्री सदा ही आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर रही है। हाँ तो, इस वर्ग मे १३ अध्ययन है और उनमे निम्न तेरह रानियो का वर्णन है—

अन्तकृत् दशा सूत्र के ७वें वर्ग मे आपके समक्ष राजा श्रेणिक की तेरह रानियो की दीक्षा एवं निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया जा रहा है। इन रानियो के छुट-पुट जीवन प्रसंग आगमो एवं अन्य टीका ग्रन्थो मे कहीं-कहीं मिलते हैं। इनमे रानी नन्दा जो अभयकुमार की माता थी उसका वर्णन ग्रन्थो मे काफी विस्तार से मिलता है।

सातवें वर्ग का वर्णन राजा श्रेणिक की धर्मभावना का ही है। रानियाँ प्रति-बुद्ध होकर राजा श्रेणिक से आज्ञा लेकर भगवान के पास दीक्षा लेती हैं। ग्रन्थो के अनुसार इस प्रसंग की पृष्ठभूमि के रूप मे राजा श्रेणिक की भगवान महावीर से वह जिज्ञासा है, जिसमे उसने अपने भावी जीवन के विषय मे पूछा, भगवान ने उसकी नरक गति बताई—नरक! इससे मुक्त होने के अनेक उपाय श्रेणिक महाराज ने किये, पर 'कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि' किये हुए कर्म बिना भोगे छूटते नहीं। इस घटना के बाद श्रेणिक राजा का मन संसार से उदासीन रहने लगा। उसने धर्म-दलाली विशेष रूप से प्रारम्भ की और राज्य मे घोषणा करवाई कि जो भी व्यक्ति दीक्षा लेना चाहें वे प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा ले, उनको किसी भी प्रकार की बाधा यदि होगी तो उसका निवारण मैं करूँगा, पीछे वाले परिवारीजनों की व्यवस्था आदि का भार भी राज्य पर होगा।

इस घोषणा का लाभ उठाकर नन्दा आदि तेरह रानियों ने तुरन्त दीक्षा ले

लिए तैयार हुई और भगवान महावीर के चरणो मे पहुँची । इनका वर्णन इस सातवें वर्ग मे इस प्रकार है—

मगधराज नरपाल श्रेणिक की राजधानी थी राजगृह । राजा श्रेणिक की अनेक रानियों में तेरह रानियो ने भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा अंगीकार की और दीक्षा पर्याय का पालन कर मोक्ष प्राप्त किया । इन तेरहो के नाम हैं—

(१) नन्दा, (२) नन्दवती, (३) नन्दोत्तरा, (४) नन्दश्रेणिका, (५) मरुता, (६) सुमरुता, (७) महामरुता, (८) मरुद्देवा, (९) भद्रा, (१०) सुभद्रा, (११) सुजाता (१२) सुमनातिका और (१३) भूतदत्ता ।

एक वार श्रमण भगवान महावीर राजगृह पधारे और राजगृह के बाहर गुणशीलक नामक उद्यान में विराजमान हुए । नगर की जनता प्रभुवन्दन को गुणशीलक उद्यान पहुँची । महावीर स्वामी का आगमन सुन रानी नन्दा बहुत प्रसन्न हुई । जिस प्रकार कृष्णप्रिया रानी पद्मावती धर्मरथ पर चढकर भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन-वन्दन करने सहस्राम्रवन पहुँची थी, उसी प्रकार रानी नन्दा ने भी धर्मरथ तैयार कराया और पद्मावती के समान भगवान महावीर के दर्शन-वन्दन करने पहुँची । भगवान ने धर्मपरिषद को धर्मकथा सुनाई । भगवान महावीर के श्रीमुख से धर्मतत्व सुनकर रानी नन्दा का वैराग्य हुआ और उसने प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार करली । तदनन्तर ग्यारह अगो का अध्ययन किया और वीस वर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन कर सिद्ध गति प्राप्त की ।

रानी नन्दा की तरह नन्दवती, नन्दोत्तरा आदि अन्य बारह रानियो ने भी सयम का पालन कर सिद्धत्व प्राप्त किया ।

अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ७ अध्ययन १ से १३ तक समाप्त

☆

१८

काली महाकाली आदि रानियों द्वारा तपश्चरण एवं मोक्षलाभ

बन्धुओ !

अंतकृत सूत्र का यह आठवाँ वर्ग इस सूत्र का अन्तिम वर्ग है। इसके दस अध्ययन हैं। इनमें राजा श्रेणिक की १० रानियों की दीक्षा, तपस्या आदि का बड़ा ही रोमांचक वर्णन है। सुख-सुविधा में पलने वाली सुकुमार रानियाँ भी कितना कठोर तपश्चरण करके आत्मा के कुन्दन को चमका सकती हैं यह इस अध्ययन के वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा।

पृष्ठभूमि

अंतकृत सूत्र में काली आदि रानियों की दीक्षा के वर्णन से ही प्रारम्भ किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में एक बहुत ही लोमहर्षक घटना छिपी है, संक्षेप में मैं उसका वर्णन आपके समक्ष करता हूँ ताकि आगे का वर्णन समझने में सुविधा रहे।

राजा श्रेणिक के अनेक रानियाँ थीं। चेलणा, धारिणी, दुर्गन्धा आदि की कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं। १३ रानियों का नामोल्लेख ७ वें वर्ग में आया ही है। इसी प्रकार काली, सुकाली, महाकाली आदि १० रानियों के नाम इस वर्ग में आते हैं।

चेलना रानी के तीन पुत्र थे—कूणिक, हल्ल और विहल्लकुमार। इनका विस्तृत वर्णन निरयावलिका के कल्पिका नामक आगम के प्रथम अध्ययन में है। कूणिक ने राज्य लोभ में फँसकर श्रेणिक को जेलखाने में बन्द कर दिया था और वहीं आखिर उनकी मृत्यु हुई। जब रानी चेलना ने उसकी आँखें खोलीं, कि श्रेणिक राजा का कूणिक पर अपार स्नेह और प्रेम था, तो वह पितृप्रेम से विह्वल हो गया। श्रेणिक की मृत्यु के बाद उसे पितृशोक सताने लगा। इस शोक के कारण वह राजगृह छोड़कर चम्पा नगरी को अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा।

राजा श्रेणिक ने अपने हाथों से अपने सभी पुत्रों को राज्य-सम्पत्ति का बँटवारा कर दिया था। उस समय हल्ल-विहल्ल कुमार को सेचनक हाथी और दैवदत्त दिव्य हार और कुंडल दिये थे। श्रेणिक की मृत्यु के बाद दोनों भाई चम्पा में रहे। हल्ल-विहल्लकुमार सेचनक हाथी पर चढ़कर दिव्य हार धारण कर अपनी

रानियों के साथ क्रीडा करते थे। उनके इस आनन्द विहार से राजा कूणिक की रानी पद्मावती ईर्ष्या करने लगी। उसने कूणिक को भाइयो से हार व हाथी छीनने के लिए विवश कर दिया। कूणिक ने हल्ल-विहल्ल से हार व हाथी की अनुचित मांग की। इस माग मे क्षुब्ध एव भयभीत होकर दोनो भाई अपने परिवार के साथ रातोरात चंपा छोडकर अपने नाना राजा चेटक की शरण मे वैशाली पहुँच गये।

कूणिक ने भाइयो को और हार तथा हाथी को चेटक से मांगा। चेटक ने न्याय का पक्ष लिया और कहा—शरणागत रक्षा और न्याय के लिए सहायता करना मेरा क्षत्रिय धर्म है। हल्ल-विहल्ल का पक्ष न्यायपूर्ण है, इसलिए इनको लौटाना असभव है। बस, अपने बाहुबल एव सैन्य बल के मद में छक कर कूणिक ने अपने दस विमातृ-बधु कालकुमार, सुकाल कुमार आदि जो काली, सुकाली आदि दस विमाताओ के पुत्र थे, उनको बुलाया और अपने-अपने सैन्यबल के साथ तैयार होकर वैशाली पर आक्रमण करने का आदेश दिया। चपा और वैशाली के बीच—अर्थात् नाना और दोहिता के बीच एक भयकर सग्राम हुआ। कूणिक के पूर्वभव के दो मित्र इन्द्र—चमरेन्द्र और शक्रेन्द्र ने उसकी सहायता की। महाशिला कटक एव रथमूसल नामक दो महायुद्धो की रचना हुई और कूणिक, कालकुमार आदि ग्यारह बधु इधर और चेटक राजा, नव मल्ली, नवलच्छी आदि अठारह गणराजा एव हल्ल-विहल्ल आदि उधर।

यह सग्राम जिस समय वैशाली के रणक्षेत्र मे हो रहा था उस समय भगवान महावीर चपा नगरी मे पधारे। काली, सुकाली, महाकाली आदि रानियां जहाँ इस गृहयुद्ध से दुखी थीं, वहां अपने पुत्रों की चिंता मे घुल रही थी। भगवान महावीर का पदार्पण सुनकर दसो रानियां भगवान के समवसरण मे आई। वदना आदि करके प्रभु की धर्म देशना सुनी और फिर आकर भगवान से पूछा—भते! हमारे कालकुमार आदि पुत्र राजा कूणिक के साथ वैशाली के रणक्षेत्र मे गये हैं, क्या हम उनको वापस जीवित देख सकेंगी?

सर्वज्ञ प्रभु ने वस्तुस्थिति को देखकर इस महायुद्ध का घटनाक्रम सुनाया और बताया—हे रानियो! कालकुमार आदि दसों भाई एक-एक करके इस रणक्षेत्र मे काल को प्राप्त हो गये है। तुम उन्हे जीवित नहीं देख सकोगी।

यह हृदय वेधक समाचार सुनते ही रानियां मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडती हैं। फिर चेतना पाकर पश्चात्ताप आर्तध्यान करती है। इस समय भगवान उनको ससार की असारता एव जीवन की क्षणभगुरता का दर्शन कराते हैं और दसों रानियों का हृदय प्रतिबुद्ध हो जाता है।

काली आदि रानियों का भगवान से पुत्रो के जीवित प्रश्न तक का वर्णन निरयावलिका (१) मे आया है। अतएव सूत्र मे अब उसका अगला वर्णन आपके सामने है।

उस समय में धनधान्य से सम्पन्न चम्पा नगरी थी। राजा कोणिक वहाँ का राजा था। चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्र नाम का एक पुराना उद्यान था। एक बार श्रमण भगवान महावीर पूर्णभद्र उद्यान में पधारे। राजा कोणिक की लघुमाता और राजा श्रेणिक की रानी काली देवी ने भगवान की धर्म देशना सुनी तो प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार करली और दीक्षा के अनन्तर उपवास, बेला, तेला आदि करते हुए विचरण करने लगी।

एक दिन काली आर्या चन्दनबाला आर्या के पास आई और विनीत-भाव से हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगीं—

"हे पूज्य! आपकी आज्ञा हो तो मैं रत्नावली तप करना चाहती हूँ।"

आर्या चन्दनबाला ने सहज अनुमति देते हुए काली आर्या से कहा—

"हे देवानुप्रिये! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो किन्तु धर्माराधना में प्रमाद मत करो।"

इस प्रकार परम साधिका आर्या चन्दनबाला से अनुमति प्राप्त कर काली आर्या रत्नावली तप करने लगीं। उनके रत्नावली तप का क्रम जो शास्त्रविहित है, इस प्रकार रहा—

पहले उपवास किया, फिर पारणा किया। उनके पारणा में विगयों का सेवन वर्जित नहीं था। इस प्रकार पारणा करके बेला किया, फिर पारणा करके तेला किया, फिर आठ बेले किये और फिर उपवास किया। उसके बाद फिर बेला किया, फिर तेला किया। इस प्रकार अन्तर रहित चोला, पचोला, छह, सात, आठ, नौ से लेकर सोलह तक किये। चौंतीस बेले पूरे किये। फिर पारणा करके सोलह दिन की तपस्या की। फिर पारणा करके पन्द्रह दिन की तपस्या की। इस प्रकार पारणा करती हुई क्रमशः चौदह, तेरह, बारह, ग्यारह, दस, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक उपवास किया। पारणा करके फिर आठ बेले किये। पारणा करके तेला किया। पारणा करके फिर बेला किया। फिर पारणा करके उपवास किया और फिर पारणा किया।

इस प्रकार काली आर्या ने रत्नावली तप की प्रथम लड़ी अथवा परिपाटी—एक वर्ष, तीन महीने और बाईस दिन में पूरी की। इस एक परिपाटी में तीन सौ चौरासी दिन तपस्या के और अठासी दिन पारणा के होते हैं। इस प्रकार कुल चार सौ बहत्तर दिन होते हैं।[1]

इसके बाद काली आर्या ने रत्नावली तप की दूसरी परिपाटी प्रारम्भ की। इस बार पारणे में उन्होंने दूध, दही, घी, तेल और मीठा—इन पाँच विगयों का सेवन

---

१ सचित्र वर्णन परिशिष्ट ७ में देखें।

बन्द कर दिया। पहली परिपाटी मे इन विगयो का निषेध नही किया था, दूसरी मे इनका पूर्णत. त्याग किया।

काली आर्या ने रत्नावली तप की चारो परिपाटी की। चारो मे पहली परिपाटी सर्वकामगुणयुक्त रही, दूसरी मे विगय त्याग, तीसरी मे लेप का भी वर्जन और चौथी आयबिल से की गई। इस प्रकार रत्नावली तप की चारो परिपाटियाँ आर्या काली ने पाँच वर्ष, दो मास और अट्ठाइस दिन मे पूर्ण की और तदनन्तर आर्या चन्दनबाला के समक्ष उपस्थित होकर उन्हे वन्दन-नमस्कार किया। रत्नावली तप पूर्ण करके वे बहुत-से उपवास, बेला, तेला आदि तपो से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगी।

काली आर्या ने उग्र तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर को अत्यन्त कृश बना दिया। रक्त-मास तो उनके शरीर मे रहा ही नही। पूरे शरीर मे नसो का जाल उभर आया। उनका शरीर मात्र हड्डियो का ढाँचा शेष रह गया। उठते-बैठते, चलते-फिरते उनके शरीर की हड्डियो से कड-कड शब्द होता था। जिस प्रकार सूखी लकडियो से भरी गाडी अथवा सूखे पत्तो या कोयलो से भरी गाडी के चलने से (खड-खड) ध्वनि होती है, वैसी ही ध्वनि उनकी हड्डियो से होती थी। तप से हुए ऐसे जर्जर शरीर पर भी उनका मस्तक, मुख आदि तप के तेज से चमक रहा था। राख से ढकी अग्नि कभी छिपी नही रह पाती, सूखे-जर्जर शरीर से उनके तप की शोभा बरबस ही अपनी ओर खीच लेती थी।

निरन्तर उग्र तपस्या के इसी क्रम मे एक दिन पिछली रात्रि के समय काली आर्या ने स्कन्दक मुनि के समान विचार किया—

'तप के कारण मेरा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है। इसलिए जब तक मुझ मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम, श्रद्धा, धृति और सवेग आदि विद्यमान है, तब तक मुझे उचित है कि सूर्योदय होते ही आर्या चन्दनबाला से पूछकर सलेखना-झूषणा को सेवित करती हुई भक्तपान का प्रत्याख्यान करके मृत्यु की इच्छा न करती हुई विचरण करूँ।'

ऐसा निश्चय कर दूसरे दिन सूर्योदय होते ही काली आर्या चन्दनबाला आर्या के पास गई और वन्दन नमस्कार के अनन्तर चन्दना आर्या से बोली—

"हे आर्ये! मै आपकी आज्ञा प्राप्त करके सलेखना-झूषणा करना चाहती हूँ।"

उत्तर मे आर्या चन्दनबाला ने कहा—

"हे देवानुप्रिये! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, पर धर्मकार्य मे विलम्ब मत करो।"

इस प्रकार परम साध्वी चन्दनबाला से अनुज्ञा प्राप्त करके काली आर्या ने सलेखना की।

काली आर्या ने सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया और

पूरे आठ वर्ष तक चारित्र का पालन किया। अन्त में एक मास की संलेखना से आत्मा को भावित कर साठ भक्तों के अनशन का छेदन कर जिस अर्थ के लिए संयम ग्रहण किया था, उस अर्थ को अपने अन्तिम उच्छ्वासों में प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गई।

चम्पानगरी के राजा कोणिक की विमाताएँ तथा श्रेणिक की रानियाँ—सुकाली, महाकाली, कृष्णादेवी, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा—इन नौ देवियों ने भी पूर्णभद्र उद्यान में विराजित भगवान महावीर से दीक्षा अंगीकार की और आर्या चन्दनबाला के समीप विविध प्रकार के तप करके मोक्ष प्राप्त किया। इन नौ देवियों ने काली देवी के समान क्रमशः एक-एक वर्ष अधिक दीक्षा-पर्याय का पालन किया। जैसे काली आर्या ने आठ वर्ष, सुकाली ने नौ वर्ष, महाकाली ने दस वर्ष, कृष्णा देवी ने ग्यारह वर्ष। शेष ने भी इसी क्रम से एक-एक वर्ष अधिक चारित्र पर्याय का पालन किया।

किस देवी ने किस-किस व्रत का, कैसे-कैसे पालन करके मोक्ष लाभ किया, इसका वर्णन क्रमशः इस प्रकार है—

सुकाली आर्या ने चन्दनबाला आर्या से अनुमति प्राप्त कर 'कनकावली' तप[1] किया। काली आर्या ने रत्नावली तप किया था, जिसका पूर्ण वर्णन यथास्थान ऊपर दिया गया है। इन दोनों तपों में अन्तर यह है कि रत्नावली तप में जहाँ तीन स्थानों पर आठ-आठ और चौंतीस बेले किये जाते हैं, वहाँ कनकावली तप में उतने ही तेले किये जाते हैं। कनकावली तप की एक परिपाटी में एक वर्ष, पाँच महीने और बारह दिन लगते हैं। इनमें अठासी दिन पारणों के और एक वर्ष, दो महीने और चौदह दिन तपस्या के होते हैं। चारों परिपाटी को पूरा करने में पाँच वर्ष, नौ महीने और अठारह दिन लगते हैं। इनका सारा साध्वी जीवन काली आर्या के समान है। नौ वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन कर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

महाकाली आर्या ने 'लघुसिंह-निष्क्रीडित' नामक तप किया।[2] इसकी एक परिपाटी में छह महीने सात दिन लगते हैं। पारणे के तेतीस दिन और तपस्या के पाँच मास, चार दिन होते हैं। महाकाली आर्या ने इस तप की चारों परिपाटियाँ दो वर्ष अट्ठाईस दिन में पूर्ण कीं। लघुसिंह निष्क्रीडित तप को पूर्ण करने के बाद भी महाकाली ने अनेक दुष्कर तप किये और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया।

कृष्णादेवी आर्या ने 'महासिंह-निष्क्रीडित' तप किया। लघुसिंह-निष्क्रीडित तप में एक उपवास से लेकर नौ उपवास तक ऊपर चढ़कर उसी क्रम से नीचे उतरा जाता है, किन्तु महासिंह निष्क्रीडित तप में एक उपवास से लेकर सोलह उपवास तक ऊपर

१—२ सचित्र वर्णन परिशिष्ट २ में देखें।

चढकर फिर उसी क्रम से नीचे उतरा जाता है। इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष, छह महीने और अठारह दिन लगे। इसमे इकसठ पारणे हुए और एक वर्ष चार महीने और सत्तरह दिन तपस्या मे लगे। इसकी चारो परिपाटियाँ कृष्णा आर्या ने छह वर्ष, दो महीने और बारह दिन मे पूर्ण की। इस प्रकार उग्र तप करने के अनन्तर संथारा करके मोक्ष प्राप्त किया।

सुकृष्णा आर्या ने 'सप्तसप्तमिका' भिक्षु प्रतिमा तप किया। इसके बाद अष्ट-अष्टमिका भिक्खुपडिमा तप किया। यह व्रत चौंसठ दिन-रात मे पूर्ण हुआ। इसके बाद नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा अंगीकार की। यह भिक्षुप्रतिमा इक्यासी दिन-रात मे पूर्ण हुई। इसके बाद दशदशमिका भिक्षुप्रतिमा अगीकार की। यह भिक्षुप्रतिमा सौ दिन-रात मे पूर्ण की। इन प्रतिमाओ के अनन्तर सुकृष्णा आर्या ने अर्द्धमास खमण, मास खमण आदि विविध प्रकार की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए अन्त मे संथारा करके सिद्ध गति प्राप्त की।

महाकृष्णा आर्या ने 'लघु-सर्वतोभद्र' तप किया। इसकी एक परिपाटी मे पूरे सौ दिन लगते हैं। इसमे पच्चीस दिन पारणे के और पचहत्तर दिन तपस्या के होते हैं। इसकी चारो परिपाटियो को पूर्ण करने मे महाकृष्ण आर्या को एक वर्ष, एक मास और दस दिन लगे। इस प्रकार तप से सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करके संथारा किया और सिद्धत्व प्राप्त किया।

वीर कृष्णा आर्या ने महा सर्वतोभद्र तप किया। इसकी सात लडी की एक परिपाटी मे आठ महीने, पांच दिन लगते है। इसमे उनचास दिन पारणे के और छह मास, सोलह दिन तपस्या के होते है। वीर कृष्णा आर्या ने इसकी चारो परिपाटी दो वर्ष, आठ मास और बीस दिन मे पूर्ण की और चौदह वर्ष चारित्र पर्याय का पालन करके अन्त मे सिद्धत्व प्राप्त किया।

रामकृष्णा देवी ने 'भद्रोत्तर प्रतिमा' तप किया। इस तप की एक परिपाटी मे पांच लडी होती है और छह-महीने-बीस दिन लगते हैं। रामकृष्णा देवी ने दो वर्ष, दो मास और बीस दिन में चारो परिपाटी पूर्ण की और पन्द्रह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर अन्त मे सिद्ध गति प्राप्त की।

पितृसेन कृष्णा ने मुक्तावली तप किया। इसकी एक परिपाटी मे ग्यारह महीने, पन्द्रह दिन लगते हैं। आर्या पितृसेन कृष्णा ने इसकी चारो परिपाटी तीन वर्ष दस महीने मे पूर्ण कीं। इस प्रकार विविध तप करते हुए सोलह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर अंत मे संथारा करके सिद्धत्व प्राप्त किया।

महासेन कृष्णा ने 'आयम्बिल वर्द्धमान' नामक तप किया। इन्होने चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन मे 'आयम्बिल वर्द्धमान' नामक तप पूर्ण किया। इसमे आय-म्बिल के पांच हजार पचास दिन होते है और उपवास के सौ दिन होते हैं। इसमे

कुल मिलाकर पांच हजार एक सौ पचास दिन होते हैं। इस तप में चढ़ना-उतरना नहीं है।

आर्या महासेन कृष्णा ने अन्य आर्याओं की भांति आर्या चन्दन बाला से अनुमति लेकर संथारा किया और मरण को न चाहती हुई धर्मध्यान—शुक्ल ध्यान में तल्लीन रहने लगी।

'इन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और सत्तरह वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन किया। अन्त में एक मास की संलेखना से आत्मा को भावित करते हुए, साठ भक्तों को अनशन से छेदित कर, अन्तिम श्वासोच्छ्वास में अपने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मोक्ष में पहुंची।

इस प्रकार चम्पा नरेश कोणिक की माता-विमाता तथा राजा श्रेणिक की रानियों—दस देवियों ने सिद्ध गति प्राप्त की। अंतगड सूत्र का यह वैराग्य एवं समता मूलक वर्णन आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आशा है आप पर्युषण के पवित्र दिनों में इन प्रेरक जीवन प्रसंगों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को भी तप-त्याग-तितिक्षा की ओर गतिशील बनायेंगे।

अंतगडदशा सूत्र वर्ग ८, अध्ययन १ से १० तक समाप्त

प्रस्तुत पुस्तक के पठन-वाचन में
सहायक सरल साहित्य

☐ कल्पसूत्र के अन्तर्गत—

१ आराध्य देव २४ तीर्थंकरो के पवित्र जीवन चरित्र का पूर्ण अध्ययन करने के लिए पढ़ें—

जैन कथामाला, भाग ४, ५, ६

—इन तीनो भागो मे भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर तक का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त मिलेगा।

२ विस्तारपूर्वक भगवान महावीर का जीवन-चरित्र पढने के लिए—

तीर्थंकर महावीर (मूल्य १०)

३ भगवान महावीर के पश्चात्‌वर्ती श्रुतधर प्रभावक आचार्यो की पट्ट-परम्परा (पट्टावली-स्थविरावली) पढ़ने के लिए वीर निर्वाण सवत्‌ १ से वीर निर्वाण सवत्‌ १६०० तक का रोचक इतिहास पढ़ें—

जैन कथामाला, भाग १४, १५, १६, १७

—इन चारो भाग में ऐतिहासिक घटनाएँ है।

☐ अन्तगडसूत्र के अन्तर्गत—

४ महाराज श्रेणिक, चेलणा, अभयकुमार, कूणिक आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण घटनाएँ—

जैन कथामाला, भाग ७, ८, ९

—इन तीन भागो मे श्रेणिक से सम्बन्धित प्राय सभी कहानियाँ विस्तारपूर्वक दी है।

५ भगवान महावीर युग के प्रमुख उपासको, वैरागी मुनियो के जीवन-वृत्त पढ़िए—

जैन कथामाला, भाग १०, ११, १३

६ वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार का सरस सम्पूर्ण जीवन-चरित्र पढिए—

वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार (जैन कथामाला, भाग १२)

उपरोक्त सम्पूर्ण साहित्य के लिए सम्पर्क करें—

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

कथाभाग

१ क्षमावीर उदायन
२ दुर्दान्त शत्रु को जीतने वाला कुलपुत्र
३. सर्वश्रेष्ठ तप—क्षमा
४. क्रोध को कैसे जीतें ?

परिशिष्ट २

तपोभाग

१. गुणरत्न संवत्सर तप
२ रत्नावली तप
३ कनकावली तप
४. मुक्तावली तप
५ लघुसिंह निष्क्रीडित तप
६. महासिंह निष्क्रीडित तप
७ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तप
८ महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप
९. भद्रोत्तर प्रतिमा तप
१०. आयंबिलवर्धमान तप
११. बारह भिक्षु प्रतिमाएँ
१२ तपों के चित्र

परिशिष्ट ३

उपशामना सूत्र

पर्युषण की सार्थकता—

क्षमावीर उदायन

नारी का स्वभाव, उसका मन, उसकी वृत्ति नारी-जैसी ही होती है—होनी भी चाहिए। भले ही वह रानी हो या दासी, अनिन्द्य सुन्दरी हो या कुरूपता की साकार प्रतिमा। कौशाम्बी नरेश उदायन के देव-मन्दिर की पुजारिन दासी कुब्जा कुरूप थी, भद्दी थी—काली-कलूटी थी, पर नारी-हृदय उसके भी था। वह भी चाहती थी कि उसके मन का रीतापन भर जाए और उसकी अपूर्णता पूर्णता की संज्ञा ले ले। लेकिन हृदय किसे दीखता है? पतंगे को दीपक का 'स्नेह' (तेल) कब दीखता है? उन्हें दीखती है, मात्र लौ। और लौ पर ही पतंग अपने प्राण होम देता है। कुब्जा के पास सौन्दर्य नहीं था—पुरुष रूपी पतंगों को आकर्षित करने वाली रूपशिखा न थी, पर स्नेह से वह रीती नहीं थी।

कुब्जा में सेवावृत्ति गजब की थी। जब वह मन लगाकर सेवा करती तो अतिथि उसकी निष्ठा पर बलिहार हो जाता। कुब्जा इसी में सन्तोष कर लेती। एक बार गान्धार देश से आये एक पुरुष को उसने अपनी सेवा से प्रसन्न किया। पुरुष ने उसे पुरस्कार में दी एक दिव्य गुटिका। कुब्जा ने गुटिका—गोली अथवा गुटिका [illegible] ज्यों ही निगला कि वह कुरूप से-रूप हो गई। देखने पर लगा कि विश्व की सुन्दरता सब इसी में पुञ्जीभूत हो गई है। कुब्जा अब अनिन्द्य सुन्दरी, मोहिनी और स्वर्णवर्ण हो गई। उसका नाम भी अब [illegible] कुब्जा से बदल कर स्वर्णगुलिका हो गया।

अब स्वर्णगुलिका के लिए चाहकों की कमी न थी। पर उसके पास आने का साहस भी किसी में नहीं था। वह थी तो दासी ही थी। लेकिन [illegible] व्रती श्रावक सिन्धु सौवीर देश के स्वामी उदायन के लिए तो वह 'परदारेषु [illegible]' थी। अन्य किसी में इतना साहस नहीं था जो देव पुजारिन का [illegible] मार पुरुष की कमी नहीं होती—[illegible] पुरुष भी [illegible] है। [illegible] को 'हरना' बनाना [illegible] थी, [illegible] जाते हुए भी [illegible] दासी हूँ, मुझे [illegible]। [illegible] का, [illegible] का और [illegible] की प्रतीक्षा भी थी, [illegible] को स्वीकार करे, [illegible] और [illegible]

को पूर्ण कर दे। पुरुष में बल होता है और नारी मे प्रतीक्षा। नारी की प्रतीक्षा ही पुरुष को जीत लेती है।

मालवपति चन्द्रप्रद्योत की राजधानी थी उज्जयिनी। चन्द्रप्रद्योत दुर्धर्ष योद्धा, विकट लड़ाकू और छलबल का सहोदर था। उसका उद्देश्य था सफल होना, दुश्मन को जीतना, अपनी इच्छाएँ पूर्ण करना। भले ही उसे धर्मठगाई करनी पड़े, चोरी करनी पड़े, छल-बल का सहारा लेना पड़े और अपने कानो से अपनी निन्दा भी सुननी पड़े। वह ऐसा प्रचण्ड और विकट था कि लोग उसे चन्द्रप्रद्योत की जगह 'चण्डप्रद्योत' कहते थे। आस-पास के राज्यो मे उसका यही नाम प्रसिद्ध था।

चण्डप्रद्योत की एक दुर्बलता भी थी और वह थी, उसकी कामलोलुपता। जब भी वह काम के वशीभूत होता, एक राजा के गौरवपूर्ण पद से नीचे उतर कर छिछोरा मनुष्य बन जाता। चण्डप्रद्योत के कानों ने उदायन की दासी का अप्रतिम सौन्दर्य सुना तो उसे देखने के लिए रूप की प्यासी उसकी आँखें तड़पने लगीं और परिरम्भ सुख चाहने वाली भुजाओं ने उसे दुस्साहसी बना दिया। एक रात वह अपनी इच्छा पूर्ण करने चला। चला इसलिए कि स्वर्णगुलिका का सन्देश और निमत्रण उसे इन शब्दो मे मिला था—

"यदि समय आने पर वीतभय के साथ ईंट से ईंट बजाने का साहस हो तो मैं आपके साथ भागने के लिए तैयार हूं। मुझे साथ ले चलने मे युद्ध की जरूरत नही पड़ेगी, क्योंकि रात का अँधेरा हमारा रक्षक होगा। लेकिन जब अँधेरा छँट जाएगा तो यह रहस्य छिपा न रहेगा। तब तो ईंट से ईंट बजानी ही पड़ेगी।"

स्वर्णगुलिका का निमंत्रण पाकर चण्डप्रद्योत बाँसो उछल पड़ा। 'जो होगा सो देखा जाएगा', यह सोच वह अनलगिरि नामक अजेय गंध हस्ती पर चढ़कर रात के अँधेरे और सन्नाटे मे वीतभय के देव मन्दिर पहुँचा और राजा उदायन के कुल की देवप्रतिमा तथा स्वर्णगुलिका दासी को चुराकर रातोरात भाग गया।

× × ×

शौर्य, बल, पराक्रम और वीरत्व होते हुए भी राजर्षि उदायन युद्ध विमुख रहने वाले शासक थे; क्योंकि धर्म में उनकी रुचि थी, श्रावक के बारहों व्रतो का पालन उन्हें इष्ट था। हाँ, जब कभी युद्ध की अनिवार्यता उन्हें मजबूर करती तो उन्हें युद्धक्षेत्र में उतरना पड़ता। तब भी वे इतना ध्यान रखते कि शत्रु को पराजित किया जाए, नाश को नहीं, रक्तपात कम से कम हो और शत्रु से द्वन्द्व युद्ध करके ही हार-जीत का फैसला कर लिया जाए।

प्रातःकाल का समय था। उदायन सम्राट का राजदरबार लगा था। राज-सेवक ने एक सन्देश दिया, जिसे सुनकर उदायन जैसे धीर ललित सम्राट का खून भी खौल उठा। सेवक ने कहा—

"अरे छली ! छल ही तेरा बल है । रथ का धोखा देकर तू गजारूढ होकर आया है । कायर, पहली ही बार तूने प्रतिज्ञा भंग की । तुझे अपने हाथी का बड़ा घमण्ड है । आज मैं तुझे बन्दी बनाकर ही मानूंगा ।"

उदायन ने बाण वर्षा से अनलगिरि को विचलित कर दिया । उसके चारो पैर, सूंड और मस्तक को छलनी बना दिया । दोनो ओर की सेना द्वन्द्व युद्ध का कौतुक देख रही थी । उदायन ने विद्युत्गति से रथ को घुमाया और घायल हाथी पर से चण्ड को रथ मे खींचकर बन्दी बना लिया । उदायन ने सोचा, इसे ऐसा दण्ड मिलना चाहिए जिसे पूरा संसार इसके कामान्ध रूप की निन्दा करता रहे । अतः उदायन ने उसके मस्तक पर 'दासी पति' शब्द अंकित करवा दिया ।

चण्ड के बन्दी होने का समाचार मिलते ही स्वर्ण गुलिका दासी भाग गई और सबके अत्याग्रह पर उदायन ने देव प्रतिमा वही स्थापित करा दी । अब बन्दी चण्ड प्रद्योत को लेकर उदायन ने वीतमय की ओर प्रस्थान किया ।

× × × ×

वीतभय की ओर प्रस्थान करते हुए उदायन ने मार्ग मे आठ दिन का पड़ाव डाला । जिस स्थान पर पड़ाव डाला वह 'दशपुर' नाम से प्रसिद्ध था जो आज 'मन्दसौर' के नाम से जाना जाता है । भादो का मास और पर्युषण पर्व । श्रावक व्रती, जैन धर्मानुरागी अपने सामन्त राजाओं के साथ पर्युषण पर्व मनाने रुक गया । धर्मव्रती के लिए नगर-वन सब समान ही होते हैं ।

जैन धर्म 'गुनि पूजक' धर्म है और पर्युषण पर्व है, साल भर के कृत्यो का लेखा-जोखा करने वाला पर्व—आत्म-निरीक्षण का पर्व । पर्युषण का अर्थ है—आत्मा के 'समीप रहना' ।

मनुष्य द्वेष-घृणा, माया-मोह, ईर्ष्या, शत्रुता-वैर आदि सबके समीप नित्य ही रहता है और प्रेम, दया, क्षमा आदि से दूर रहना उसका स्वभाव सा बनता जा रहा है । वास्तव मे द्वेष, घृणा विभाव है, प्रेम, दया, क्षमा स्वभाव । स्वभाव मे रमण करना तथा इन सब गुणो के समीप रहना ही पर्युषण का महत्त्व है । इसीलिए हमारे ऋषियो ने यह पर्व निश्चित किया है कि इस पर्व पर मनुष्य अपनी साधारण निम्न भूमिका से ऊँचा उठकर सोचने का प्रयत्न करे और जीवन की अपवित्रता से निकलकर पवित्रता की ओर चले । पाप-पुण्य का लेखा-जोखा, परनिन्दा कितनी की, दूसरों को कितना क्षमा किया, लोभ-मोह मे कितना फँसा, कितना छोड़ा—इस प्रकार आत्म-निरीक्षण ही पर्युषण पर्व के आठ दिनों की सच्ची आराधना है । जिस-जिस के साथ बुरा व्यवहार किया है, उसे याद कर सच्चे मन से पश्चात्ताप करना और उसे खमाना ही इस पर्व की सार्थकता है ।

पर्युषण पर्व के सात दिन बीते । पर्व का आठवां और अन्तिम दिन—'संवत्सरी पर्व' था । उदायन ने रसोइये से कहा—

'चण्ड ठीक ही तो कहता है। इसके अपराध से क्षुब्ध होकर ही तो मैंने इसे वन्दी बनाया था। यदि इसे मुक्त नही किया तो इसके अपराध को क्षमा भी नही किया। माना कि चण्ड दुर्दान्त शत्रु है। ऐसे भयकर शत्रु को छोडना एक राजा की महान् भूल है, पर उदायन के क्षमावीर की पराजय भी तो नही हो सकती।'

इस प्रकार थोडी देर तक धर्म और राजनीति मे द्वन्द्व चला। राजा उदायन, युद्ध वीर उदायन हार गया और श्रावक उदायन, राजर्षि उदायन तथा क्षमावीर धर्मवीर उदायन जीत गया। सम्मान के साथ चण्ड को मुक्त कर दिया गया और सहधर्मी तथा मित्र चण्डप्रद्योत को क्षमावीर उदायन ने गले लगाकर पर्युषण पर्व की सार्थकता सिद्ध करते हुए कहा—

"आज से तुम मेरे सहधर्मी मित्र हो।"

जब उदायन ने ऊपर देखा तो चण्ड के कपाल पर 'दासीपति' लिखा शब्द उनके मन मे शूल-सा चुभ गया। यह आवेश की भूल थी। उदायन ने चण्ड के भाल पर स्वर्णपट्ट बाँधा और 'दासीपति' को ढँक दिया और अपने पट्ट बन्ध मित्र अवन्तीपति चण्डप्रद्योत को ससम्मान विदा कर दिया।

राजर्षि की धार्मिक सार्थकता आज भी हमे प्रेरणा दे रही है।

☆

दुर्दान्त शत्रु को जीतनेवाला क्षमावीर कुलपुत्र

धीरे-धीरे निशा अपने काले आँचल को समेटती जा रही थी। प्रभात के तारे एक-एक करके छिपते जा रहे थे। कुछ जागरूक उठ चुके थे और बहुत-से प्रमादी तन्द्रा में अलसाये आँख मूँदे पड़े थे, मानो आँख मूँदकर ही वे उजाले को अँधेरा बनाने में पारंगत हों। ऐसी निशान्त वेला में एक खून का प्यासा अपने शत्रु को यम लोक पहुँचाकर जिधर से आया उधर ही चला गया। हत्यारा गायब था, पर उसका दुष्कृत्य कुलपुत्र के भाई के शव के रूप में जीता-जागता पड़ा था। कुलपुत्र ने भाई को देखा तो उसके मुँह से चीख निकल गई। माँ को पुकारा—

"माँ ऽऽ! मेरा भैया मुझे छोड़कर चला गया। मेरी एक भुजा कट गई। माँ अब मैं अकेला रह गया। अरे कौन हत्यारा मेरे अग्रज को मारकर चला गया!"

क्षत्राणी ने बिलखते पुत्र को देखा तो उसके उमड़ते हुए आँसू जैसे जम गए। क्षत्राणी खून से लथपथ अपने बड़े बेटे को देख रही थी और बिलखते छोटे बेटे के आँसू भी पी लेना चाहती थी। क्षणभर के लिए उसका कोमल नारीत्व और ममता भरा मातृत्व न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। कठोर क्षत्राणी का दर्प बेटे को ललकारते हुए बोला—

"अरे, तू औरतों की तरह रोता क्यों है? क्या तेरी तलवार की धार कुण्ठित हो गई? उठ, और भाई का बदला ले।। मैं कायर की माँ नहीं हूँ, जो अपनी आँखों के सामने अपने बेटे को [illegible] होते देखूँ। [illegible] में बच्चों को एक कायर [illegible] जाए और फिर ताकता देखता रहे? मेरी नसों में मेरा—एक सिंहनी क्षत्राणी का दूध रक्त बनकर प्रवाहित हो रहा है। भाई के हत्यारे को मौत के घाट उतार दे।"

कुलपुत्र के आँसू सूख गए। वह उठा, अपना शस्त्र सँभाला और बोला—

"माँ…!"

माँ ने बीच में रोक कर कहा—

"क्षत्रिय कभी भी अपने शत्रु को ऐसा मौका नहीं देते कि वह वार करे। [illegible] और शत्रु को वार करने के पहले ही समाप्त कर देता है। लेकिन जो शत्रु के आक्रमण करने के बावजूद भी [illegible], वह क्षत्रिय के नाम पर कलंक है, कायर है।"

कुलपुत्र चीख उठा—

"बस मां बस, मैं तेरे दूध की सौगन्ध खाता हूं कि अब मैं बन्धुघातक को पकड़कर ही लौटूंगा। तेरे दूध की श्वेतिमा को कलंकित नही करूंगा। जब तक इस खड्ग से तेरे सामने बन्धुघातक को शिक्षा न दे लूंगा, तब तक नीद मेरे लिए नीद नही, भोजन-भोजन नही। मां! अगर मैं ऐसा न कर सकूं तो क्षत्रिय नही, और तेरा बेटा भी नहीं।"

क्षत्राणी को रोमांच हो आया। उसने पुत्र के सिर पर हाथ रखा—

"बेटा! तेरी सौगन्ध पूरी हो।"

कुलपुत्र ने मां के चरण छुए और बन्धुघातक की खोज मे चल दिया।

× × ×

वन-पर्वत, गांव-नगर, घाटी-खाई, कुए-बावड़ी, मरघट, खेत-खलिहान, राजमार्ग-वीथी, गली-कूचे, खण्डहर-घर, झोंपड़ी, छत-चबूतरे, गुरुकुल-उपाश्रय, मन्दिर-चैत्य—धरती का चप्पा-चप्पा, कोना-कोना कुलपुत्र ने छान मारा, पर बन्धु-घातक हत्यारा नही मिला। इस तरह ढूढते-खोजते लगभग बारह वर्ष बीत गये। पर आशा और उत्साह ने कुलपुत्र का साथ नही छोड़ा। वैज्ञानिक कहते हैं प्रारम्भ मे धरती आग का गोला थी। ज्यों-ज्यों समय बीता धरती ठंडी होती गई। पर, बारह वर्ष बीतने पर भी कुलपुत्र की क्रोधाग्नि ठंडी नही हुई। आज भी वह यही सोचता, 'जब बन्धुघातक मिलेगा, उसका खून पी जाऊंगा, उसे जिन्दा नहीं छोड़ूंगा।' कुलपुत्र क्रोधावेश मे ऐसा पागल हो गया कि रात के अंधेरे मे सूखी लकड़ियों के ढेर पर ऐसे झपटता, जैसे बाज कबूतर पर झपटता है, पर उसे निराशा ही हाथ लगती। दूर बैठा सूखे ठूंठ को देखकर वह सोचता—'यह कोई पुरुष बैठा हो, शायद यही मेरा शत्रु हो, चलूं उसकी मुश्कें बांध लूं।' क्रोध ने उसे उन्मत्त और अन्धा बना दिया था। रात के अंधेरे मे मिट्टी के ढूह, लकड़ी के ठूंठ, सूखे पत्तों के ढेर, छोटी-छोटी झाड़ियां—सब उसे बन्धु-घातक के रूप मे बैठे दिखाई देते। उसकी आंखो पर प्रतिशोध, वैर और क्रोध का सम्मिलित चश्मा चढ़ा था, उसे अब सम्पूर्ण जगत, प्रकृति सुषमा—बन्धुघातक ही दिखाई देते।

बारह वर्ष पूरे हुए। दैव की गति कितनी विचित्र है, जिसे चप्पे-चप्पे में छान-मारा, वह नही मिला और मिला तो अचानक मिल गया। मानो उसकी मौत उसे कुलपुत्र के पास खींच लाई हो। कुलपुत्र ने बन्धुघातक की मुश्कें बांध लीं। यों दोनों मे शक्ति बराबर थी, पर क्रोध मे व्यक्ति की शक्ति नौ गुनी बढ़ जाती है और बढ़ते-बढ़ते एक दिन इतनी क्षीण भी हो जाती है कि व्यक्ति केवल क्रोध में कांपता रहता है, कुछ कर नहीं पाता। लेकिन कुलपुत्र की शक्ति क्रोध के कारण बढ़ी हुई थी, सो उस अकेले ने ही बन्धु-घातक की मुश्कें बांधली और घर की ओर ले चला।

बन्धुघातक को पाकर कुलपुत्र का क्रोध दैत्य भी आज प्रसन्न हो रहा था। उसने आज माँ के दूध को गौरवान्वित किया था और अपने वीरत्व को—क्षत्रियत्व को सफलता का किरीट पहनाया था।

× × ×

बन्धुघातक को आँगन में पटकते हुए कुलपुत्र ने पुकार कर कहा—

"माँ ! यह ले खड्ग, और अपने हाथों से अपने पुत्रघातक को मारकर अपने बेटे के खून का बदला ले।"

म्यान से चमचमाता खड्ग कुलपुत्र ने निकालकर माँ के हाथ में दे दिया। माँ ने पुत्रघातक को देखा। पुत्रघातक ने कुलपुत्र के पैर पकड़ लिये। कातर स्वर में बोला—

"मुझे मत मारो ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। जीवनभर तुम्हारा दास रहूँगा। मेरे बिना मेरी बूढ़ी माँ रोती-रोती अन्धी हो जाएगी। मेरे छोटे-छोटे बच्चे अनाथ होकर बिलखेंगे। मेरी पत्नी विधवा होकर दर-दर की ठोकरें खायेगी। मुझे अपनी गाय समझकर छोड़ दो।"

कुलपुत्र ने ठहाका लगाया—

"अब मौत के सामने तुझे माँ की याद आई। मेरे भाई को मारते समय तेरी ये बातें कहाँ गई थी ? तेरी माँ भी मेरी माँ की तरह पुत्रवियोग में जीवन भर रोयेगी ···।"

वीरमाता क्षत्राणी का मातृत्व और नारीत्व जाग्रत हो गया। उसने विचार किया—

'शत्रु को तलवार से मारना तो निरी कायरता है। यदि इसे मारना ही है तो क्षमा से मारो। इसके मारने से क्या मेरा बेटा वापस आ जाएगा ? मेरी ही तरह इसकी बूढ़ी माँ इसके बिना तड़पेगी। इसकी स्त्री और बच्चे बिलखेंगे। एक के बदले में इतनों को सताऊँ, क्या यह नारी का—मानव का धर्म है ? नहीं-नहीं। मैं इसे नहीं मरने दूँगी। सच्चा वीरत्व मारने में नहीं, अभय देने में है।' सोचते-सोचते क्षत्राणी ने खड्ग कुलपुत्र के हाथ में देते हुए कहा—

"पुत्र ! खड्ग को म्यान में रख ला। अब इसे मारने की कोई जरूरत नहीं। इसके बन्धन खोल दो।"

"माँ ! यह तुम क्या कह रही हो ?" चौंककर कुलपुत्र ने पूछा—"माँ ! जिस शत्रु के लिए [illegible] जाकर [illegible], उस [illegible] को [illegible] छोड़ रही हो ? माँ ! यह अभी नहीं हो सकता। अपराधी दण्डनीय है, क्षम्य नहीं। मुझे कायर मत बनाओ। माँ ! तुम्हीं ने तो कहा था कि शत्रु को पकड़कर उसे शिक्षा न देने वाला, [illegible] कायर होता है।'

क्षत्राणी ने कहा—

"बेटा ! क्षत्रिय का, वीर का धर्म ही मैं तुझे बता रही हूँ। शरणागत की रक्षा करना, शरण मे आये को अभयदान देना सच्चे क्षत्रिय का धर्म है।

"बेटा ! शत्रु को जीतो। लेकिन बाहरी शत्रु को नही, अन्दर के दुर्दान्त शत्रु क्रोध को जीतना ही शत्रु को जीतना है। यह क्रोध कितने अनर्थ करता है। इसी क्रोध कषाय की अग्नि मे सारा ससार जल रहा है। बडे-बडे युद्ध, विनाश, नर-सहार इसी क्रोधरिपु के कारण होते है। इसी क्रोध ने तुम्हारे भाई का विनाश कराया। इसी क्रोधरिपु के वशीभूत यदि तुमने इसे मारा तो इसके पुत्र तुम्हें भी जगलो की खाक छानकर खोजेंगे। फिर यह विनाश-परम्परा इसी तरह चलती रहेगी। जन्म-जन्म तक ! सच्ची वीरता क्षमा मे है। इसे क्षमा कर दो—यह खुद-ब-खुद मर जाएगा।"

कुलपुत्र के हाथ को जैसे काठ मार गया। उसने तलवार म्यान मे रखली और सोचने लगा—'माँ ठीक ही तो कहती है। खून के दाग कभी खून से धुले है ? क्रोध से क्रोध की बेल बढती ही जाएगी।'

कुलपुत्र और उसका शत्रु अब बन्धु की तरह उसके गले मिला। कुलपुत्र को लगा, मानो मेरा स्वर्गीय भाई ही मुझ से मिल रहा है। इस मिलन के अनन्तर वह हँसी-खुशी अपने घर चला गया। इस प्रकार कुलपुत्र ने अपने हृदय कोटर मे छिपे दुर्दान्त क्रोधरिपु को जीत लिया। क्षमा के जयनाद से दिशाएँ गूँज उठीं।

सर्वश्रेष्ठ तप : क्षमा

उपवास, ऊनोदरी आदि बाह्य तप से सिर्फ शरीर सूखता है, जब तक कषायों की शांति नहीं होती, क्रोध की ज्वाला धधकती रहती है सब तप व्यर्थ है। अगर क्रोध शांत हो गया है, कषायों की आग बुझ गई है, क्षमा की शीतलधारा से अन्तःकरण शीतलीभूत हो गया है तो फिर अन्य तप करें या न करें। क्षमा की उत्तम आराधना ही सर्वश्रेष्ठ तप है। मुनि नागदत्त केवली के चरित्र से यह बात उजागर हो जाती है।

पूर्व जन्म के संस्कार थे। इसलिए राजकुमार नागदत्त ने बाल्य-काल में ही दीक्षा ले ली। पूर्व जन्म में वह तिर्यंच योनि में था, इसलिए उसे जबान (स्वाद) पर तो काबू था, पर भूख पर काबू नहीं था। मुनियों के संघ में वह सबको उपवास करते देखता, पर स्वयं एक दिन का भी उपवास नहीं कर पाता। जैसे ही भिक्षा लाता, गुरु को आहार दिखाता और एकान्त में ले जाकर खाने बैठ जाता। संघ के साधु उसे पेटू और भोजन-भट्ट कहकर उसका मजाक उड़ाया करते।

क्षुल्लक मुनि नागदत्त भाव साधक था, शरीर-साधक नहीं। उसने क्रोध को जीतने का व्रत लिया था। उसकी साधना क्रोध को जीतने में थी, भूख को जीतने में नहीं। साधुओं के उपहास और व्यंग्यवचन सुनकर क्षुल्लक मुनि नागदत्त अपनी आलोचना करते—'मुनिगण ठीक ही तो कहते हैं। मुनिचर्या अपनाकर भी मैं भूखा नहीं रह पाता। ये सब तपस्वी साधक हैं, जो महीनों-महीनों का उपवास करते हैं।

मुनि नागदत्त के संघ में चार उग्र तपस्वी श्रमण भी थे। एक चार मास की तपस्या करता था, दूसरा तीन मास, तीसरा दो मास और चौथा एक मास की। सर्वत्र उनकी तपस्या की बड़ी धाक थी। उग्र तपस्वी के नाम से संसार उन्हें पूजता था। मुनि नागदत्त भी उन उग्र तपस्वियों की ओर देखकर स्वयं की भूख-वृत्ति को धिक्कारता रहता।

एक बार रात्रि के समय एक देवी मुनियों की वन्दना करने आई। श्रमण संघ के चारों मुनि उठे। अन्त में क्षुल्लक मुनि उठे। देवी ने उन चारों को छोड़ क्षुल्लक मुनि नागदत्त की वन्दना की। देवी के इस अप्रत्याशित व्यवहार से चारों मुनि क्षुब्ध-क्रुद्ध हुए।

चारों मुनियों ने देवी से कहा—देवीजी! आपका यह व्यवहार अनुचित है। और तपस्वी साधकों को छोड़कर आपने एक पेटू मुनि की वन्दना की है। यह किस

जिह्वालोलुप और गलतभोजी है। नियम धर्म से कोसो दूर रहता है। लगता है, आपने भ्रमवश ही ऐसा किया है।"

देवी ने कहा—

भंते ! आप गलत समझे है। मैं भ्रमित नही हुई। मैंने वन्दनीय की ही वन्दना की है। मुनि क्षुल्लक भाव तपस्वी हैं। क्षमा के आराधक हैं। उन्होने क्रोध कषाय को जीत लिया है। उन्हे इसी जन्म मे—बहुत जल्दी केवलज्ञान मिलेगा। आप लोग केवल काया को कष्ट देना ही तप मानते हैं। आपका कषाय उग्र है, वे मद कषायी है।

इतना कह देवी अन्तर्धान हो गई। देवी के कथन से चातुर्मासिक चारो मुनियो के मन में क्षुल्लक मुनि के प्रति ईर्ष्याग्नि भडक उठी। वे अब क्षुल्लक मुनि को और अधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे।

एक दिन पर्व का दिन था। सभी मुनियो का व्रत था। क्षुल्लक मुनि नागदत्त गोचरी के लिए गए और चारो मुनियो को मुनि आचार के नाते आहार दिखाकर आहार की आज्ञा ली। उनके इस आचरण पर चारो क्रुद्ध हो उठे और बोले—

"अरे पेटू ! क्या तू जानता नही कि आज हमारे उपवास का दिन है ? फिर क्यो तू हमसे भोजन के लिए पूछ रहा है ?"

यह कह चारो ने क्षुल्लक मुनि के आहार-पात्र मे थूक दिया। क्षुल्लक मुनि इतने पर भी शान्त बने रहे। उन्होने हाथ जोड़ कर चारो से क्षमा याचना की—

"मुनिवर ! मैं आपके थूकने के लिए पात्र (थूकदान) नही ला सका। मेरा अपराध क्षमा करें।"

चारो मुनि क्षुल्लक मुनि के धैर्य और क्षमा भाव को देख दग रह गए। चारो ने अपनी आलोचना की—

"देवी ठीक ही कहती थी। हम तो शरीर को तपाने वाले ही हैं। सच्चा तपस्वी—मन को तपाने वाला तो यह क्षुल्लक ही है।"

मुनियों की ईर्ष्या शान्त हो गई। उन्हें सत्य सत्य दीखने लगा। प्रेम विभोर होकर उन्होंने क्षुल्लक को आलिंगनबद्ध किया और अपनी भूल स्वीकार की।

तभी देवी पुन प्रकट हुई। उसने तपस्वियों से पूछा—मैंने वन्दनीय की ही वन्दना की थी न ?"

मुनियो ने कहा—

"देवी ! हम ही भ्रम मे थे। जिसने क्रोध को जीत लिया, वही वन्दनीय है।"

× × ×

एक दिन देव दुन्दुभी बज उठी। क्षुल्लक मुनि नागदत्त को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवली मुनि नागदत्त को अपना पूर्व भव साफ-साफ दीखने लगा। अपने दो

भवों का ज्ञान उन्होंने साधुओं को सुनाया क्योंकि उनके पिछले दोनों जन्म-एक मनुष्य का और दूसरा तिर्यंच का—दोनों ही बड़े प्रेरक थे।

क्षमा बीती बात

एक गुरु, एक शिष्य। दोनों साधक। एक बार गुरु शिष्य के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में उनके पैर से एक मेढक दब कर मर गया। शिष्य ने गुरु को सावधान किया—

"गुरुवर! अनर्थ हो गया। बेचारा मेढक आपके पैरों से कुचल कर मर गया।"

गुरु ने शिष्य की आँखों पर परदा डालते हुए कहा—

"क्या तुझे इतना भी नहीं दीखता? अरे मूर्ख यह मेढक तो मरा हुआ था।"

शिष्य ने फिर कुछ नहीं कहा। मौन हो गया।

सायंकाल का समय। दिन भर के कार्यों का प्रतिक्रमण करना था। शिष्य ने गुरु को याद दिलाया—

"गुरुवर! मेढक की विराधना की आलोचना करना न भूलें।"

गुरु ने मानो सुना ही नहीं। शिष्य ने फिर दुहराया। गुरु फिर भी चुप रहे। जब शिष्य ने तीसरी बार कहा तो गुरु बिगड़ उठे—

"तू अपना काम कर। मुझे शिक्षा मत दे। तू शिष्य है या गुरु? ठहर अभी तुझे शिक्षा देता हूँ।"

इतना कह, गुरु रजोहरण ले शिष्य के पीछे दौड़े। शिष्य भी सिर पर पैर रख कर भागा। रात का अँधेरा फैल चुका था। गुरु एक पत्थर के खम्भे से टकरा गए और चल बसे। मरकर वे ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न हुए। कालान्तर में देवायुष्य पूर्ण कर देवलोक से च्युत हुए और दृष्टिविष सर्पयोनि में उत्पन्न हुए और नगर के बाहर एक उपवन में रहने लगे।

जिस नगर में गुरु सर्पयोनि में उत्पन्न हुए उस नगर के राजा के एक पुत्र था। एक बार राजपुत्र को किसी सर्प ने काट लिया। बड़े-बड़े चिकित्सक और मान्त्रिक बुलाए गए। पर सारे प्रयास करने पर भी राजकुमार को कोई भी जिला नहीं सका। तब अन्त में मान्त्रिकों ने एक मण्डल रचाया और आस-पास के सभी सर्पों का आह्वान किया। बहुत-से सर्प मण्डल में एकत्र हुए। मान्त्रिकों ने कहा—

"जिस सर्प ने राजकुमार को काटा है, वही मण्डल में रहे, बाकी सब चले जाएँ। सभी सर्प चले गए, केवल एक सर्प मण्डल में रह गया। मान्त्रिकों ने सर्प को आदेश दिया—

"तुमने राजकुमार को डसा है। या तो अपना विष वापस खींचो या अग्नि-कुण्ड में कूदो।"

यह सर्प अगंधन कुल का सर्प था। इस जाति के सर्प वमित विष को फिर नहीं पीते। अतः वह सर्प भी अपनी कुल परम्परा के नाते विवश था, सो अग्निकुण्ड में कूद पड़ा और जलकर राख हो गया और सर्प के साथ वह राजकुमार भी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

राजा का इकलौता बेटा चल बसा। रनिवास शोक-सागर में डूब गया। नगर-भर में मातम छा गया। राजा शोक और क्रोध के दुहरे आवेग में विक्षिप्त-सा हो गया। अब वह शोक को तो भूल गया और सर्प मात्र का शत्रु बन गया। राजा ने घोषणा कराई—

"जो भी मुझे साँप का कटा हुआ सिर लाकर दिखायेगा, मैं उसे एक स्वर्ण मुद्रा दूंगा।"

धन का लोभ सब कुछ करा देता है। जो लोग चुहिया से भी डरते थे, वे अब काल की रस्सी से खेलने लगे और राजा को सर्पशीष दिखा-दिखाकर अपनी गरीबी दूर करने लगे।

गुरु का जीव दृष्टिविष सर्प के रूप में दिनभर अपने बिल में ही छिपा रहता। प्राण भय से वह रात्रि में ही निकलता। सर्प खोजियों ने एक दिन उसका बिल भी देख लिया और उन्होंने बिल पर एक ऐसी जड़ी (औषधि) रख दी कि सर्प बाहर आने को विवश हो गया। दृष्टिविष सर्प विचारलीन हुआ। उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ, तो अपना पूर्व जन्म साक्षात् दिखाई देने लगा, सोचा—'मैंने क्रोध का विपाक देख लिया। अब क्षमा-दया का सहारा ही मेरा कल्याण करेगा। यदि मैं सीधे बाहर निकलूंगा तो मेरी दृष्टि से सभी लोग मर जाएँगे—आखिर दृष्टि-विष कुल का हूं न, अतः उल्टा निकलूं तो किसी की प्राण हानि न होगी।' यह सोच वह सर्प पूंछ की ओर से उल्टा बाहर निकला। बाहर खड़े लोगों ने उसकी पूंछ काट ली और इसी तरह क्रम-क्रम से उसके अनेक टुकड़े कर दिये। अन्त में उसका सिर ही शेष रह गया, ज्योंही लोगों ने उसका सिर काट कर उठाना चाहा कि एक नाग देवी उसके सिर को उठा ले गई। स्वर्ण मुद्रा लोभी देखते रह गये।

राजा सुख की नींद सो रहा था। रात्रि का अन्तिम प्रहर था। एक नागदेव ने राजा से स्वप्न में कहा—

"राजन्! सर्पों का मरवाना छोड़ दो। अब तेरे घर एक पुत्र उत्पन्न होगा, यह मेरा वरदान है। तू अपने उस पुत्र का नाम नागदत्त रखना।"

राजा उठा। रानी को स्वप्न सुनाया। कालान्तर में रानी गर्भवती हुई। सवा नौ महीने बाद दृष्टिविष सर्प का जीव राजा के घर पुत्र रूप में जन्मा।

पुत्र का जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। राजा ने उसका नाम नागदत्त रखा। राजकुमार नागदत्त चूँकि पूर्व भव में तिर्यंच योनि में था, इसलिए उसे भूख बहुत लगती। रात में, दिन में कभी भी वह बिना खाये नहीं रह सकता था।

भावों की विशुद्धता के कारण नागदत्त को जातिस्मृति हुई, क्रोध की उग्रता के कारण उसने जो दुःख एवं यातनाएँ सही और संयम साधना को बर्बाद किया वह चित्र उसकी आँखों के सामने साकार हो गया। उसकी अन्तर की क्रोधाग्नि उपशान्त हो गई और वह गुरु के पास दीक्षित हो साधना करने लगा।"

केवली नागदत्त ने अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—क्रोध के कारण मैंने श्रमण पर्याय की विराधना कर नागयोनि में जन्म लिया, क्रोध की उपशान्ति हुई तो नागयोनि से पुनः मनुष्य भव प्राप्त हुआ। क्रोध के दुष्परिणाम का अनुभव करके ही मैंने क्षमा की आराधना की, क्षमा की सतत आराधना से ही मेरे घातिकर्म नष्ट हुए। वास्तव में ही सब तपों में 'क्षमा तप' सर्वश्रेष्ठ है।

☆

क्रोध को कैसे जीतें ?

✓ क्रोध क्रोध से कभी शांत नहीं होता बल्कि अधिक ही भड़कता है। क्रोध अग्नि को शांत करने के लिए अक्रोध-क्षमा की जलधारा ही समर्थ है। वासुदेव श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य को उद्घाटित किया है—

एक बार श्रीकृष्ण चन्द्र बलदेव, सत्यक और दारुक को लेकर वन-विहार को गए। वनक्रीड़ा और वनभोज में चारों इतने बेसुध हो गये कि सान्ध्य वेला का भी ध्यान न रहा। वनप्रान्त से निकलने से पहले ही सूर्य डूब गया। चारों ने तय किया कि अब तो रात इसी जंगल में बितानी पड़ेगी। सवेरे अरुणोदय होते ही घर चल देंगे। ऐसा निश्चय कर चारों एक वटवृक्ष के नीचे ठहर गये।

चारों थके थे। क्रीड़ोत्तर थकान का अनुभव करते हुए एक ने सुझाव दिया—

"खेलते-दौड़ते इतने थक गये हैं कि नींद गहरी आयेगी। इस विकट वन में हिंसक जीवों का भी भय है। अतः बारी-बारी से सब पहरा दें, यही उचित है।"

× × ×

पहला प्रहर दारुक का था। कृष्ण, बलदेव और सात्यक गहरी नींद में बेसुध सो रहे थे। दारुक जागकर तीनों की रखवाली कर रहा था। कुछ देर बीतते-बीतते एक पिशाच आया और दारुक से बोला—

"बहुत दिनों से भूखा हूँ। आज तुम चारों को खाकर भूख मिटाऊँगा।"

दारुक ने भी चुनौती दी—

"तू खायेगा तो तभी, जब मैं तुझे जीवित छोडूँगा। मैं अभी तुझे मौत का कलेवा बनाता हूँ।"

दोनों भिड़ गए। पिशाच भी दुर्धर्ष योद्धा था और दारुक भी विकट पराक्रमी। कभी पिशाच दारुक को पटकता, कभी दारुक पिशाच को। अन्ततः दारुक का क्रोधावेग बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों दारुक का क्रोध बढ़ता गया, त्यों-त्यों पिशाच का बल भी बढ़ता गया। दारुक के क्रोध ने पिशाच के तन को तो बढ़ाया, पर स्वयं मार खाकर गिर पड़ा—लहू-लुहान और घायल। पिशाच ने विजय की हुंकार भरी। दोनों के जूझने में तीन घंटे अथवा एक प्रहर पूरा हो गया, अतः दूसरी बारी का पहरेदार सात्यक जाग उठा था, इसलिए पिशाच सोते हुओं का कुछ न बिगाड़ सका।

कृष्ण बोले—

"वह स्वयं ही मूर्च्छित हुआ है। मैंने तो हाथ भी नही लगाया।"

दारुक चकराया। बोला—

"ऐसा क्योंकर हुआ ? अपने आप मूर्च्छित ...?"

"हाँ भाई!" कृष्ण बोले—"मेरे पास शान्ति का अमोघ शस्त्र था। प्रशसा के शस्त्र ने उसके बल को घटाया और शान्ति के शस्त्र ने उसे परास्त किया।"

इसके बाद कृष्ण ने अपने तीनों साथियों को उद्बोधन दिया—

"पिशाच को पिशाच कैसे मारे ? क्रोधी मनुष्य भी पिशाच होता है। गरम को ठडा ही मारता है। रोज नही देखते ? उफनता दूध पानी के चन्द छींटो से बैठ जाता है। गरम लोहे को ठडा लोहा ही काटता है। क्रोध भी एक पिशाच है। क्रोध का उत्तर क्रोध से देने पर प्रतिद्वन्द्वी का बल बढता है। शान्ति की तलवार ही क्रोधरूपी पिशाच को काट गिराती है। शान्ति से अपना बल बढता है और प्रतिद्वन्द्वी का बल क्षीण होता है।

"साथियो! शान्ति का उपाय अचूक और अमोघ है। यही कारण है कि तुम पिशाच को न जीत सके और मैंने बिना लड़े, बिना भिड़े उसे धराशायी कर दिया।"

☆

होते हैं। तत्पश्चात् एक साथ आठ बेले, और अन्त मे एक तेला, एक बेला, और एक उपवास करके साधक रत्नावली तप को पूर्ण करता है।

इस तप की चार परिपाटी होती है। पहली परिपाटी मे पारणे के दिन दूध, दही, मधु आदि विगयो का त्याग नही होता। साधक इच्छानुसार इसका प्रयोग कर सकता है। दूसरी परिपाटी मे कोई भी विगय नहीं लिया जाता। तीसरी परिपाटी मे निर्लेप (जिसका लेप भी न लगे) आहार लिया जाता है। चौथी परिपाटी मे आयबिल[1] करना होता है। इसकी एक परिपाटी मे पन्द्रह महीने और बाइस दिन अर्थात् ४७२ दिन लगते हैं। उनमे अठासी पारणे होते हैं और ३८४ दिन का तप होता है। चारो परिपाटियाँ ५ वर्ष, २ मास और २८ दिन मे पूर्ण होती है। देखिए चित्र—पृ० १८९

कनकावली तप

यह तप कोणिक की लघुमाता और राजा श्रेणिक की रानी आर्या सुकाली ने किया और मुक्ति प्राप्त की। उनके दीक्षाग्रहण का वर्णन पृ० १७३ पर दिया गया है। इस तप की विधि इस प्रकार है—

यह तप लगभग रत्नावली तप के समान ही है। रत्नावली तप मे दोनो फूलो की जगह आठ-आठ बेले और मध्य मे पान के आकार के चौंतीस बेले किये जाते हैं और कनकावली तप में आठ-आठ एव चौंतीस तेले करने होते हैं। इसकी एक परिपाटी में सत्रह मास बारह दिन लगते हैं। उनमे अठासी पारणे और ४३४ दिन का तप होता है। चारो परिपाटियाँ पाँच वर्ष, नौ मास और अठारह दिन में पूर्ण होती है। पारणे की विधि पूर्ववत् ही है। देखिए सलग्न चित्र—पृ० १९०

मुक्तावली तप

चम्पानरेश कोणिक की लघुमाता तथा राजा श्रेणिक की रानी आर्याशिरोमणि कृष्णा ने मुक्तावली तप करके सिद्धि प्राप्त की थी। उनका वर्णन पृष्ठ १७४ पर दिया है। तप की विधि इस प्रकार है—

इस तप मे एक उपवास से पन्द्रह उपवास तक किये जाते हैं, बीच-बीच मे एक-एक उपवास होता है तथा मध्य म सोलह उपवास करके फिर क्रमश उतरते हुए एक उपवास तक किया जाता है, जैसे—एक उपवास, उसके पारणे पर बेला, बेले के पारणे पर उपवास, फिर तेला एव उपवास, इस प्रकार पन्द्रह तक चढकर एक उपवास एव उसके पारणे पर फिर सोलह का थोकडा किया जाता है। फिर पूर्व विधि से तप को घटाते हुए उतारा जाता है। इस तपश्चर्या की एक परिपाटी में ग्यारह महीने, पन्द्रह दिन—कुल ३४५ दिन लगते हैं। इनमें उनसठ दिन पारणे तथा २८६ दिन तपस्या होती है। चारों परिपाटियो को पूर्ण करने मे तीन वर्ष, दस मास लगते हैं। पारणे की विधि पूर्ववत् है। देखिए सलग्न चित्र—पृ० १९१

---

१ किसी एक प्रकार का भूँजा हुआ धान्य पानी के साथ खाना आयंबिल कहलाता है।

एव ४९ दिन पारणे के होते हैं। चार परिपाटियो मे दो वर्ष, आठ मास और बीस दिन लगते हैं। इसमें सात-सात पदो की सात पंक्तियाँ बनती हैं, यानी ४९ कोठो का यन्त्र बनता है।

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

यह तप चम्पा नरेश कोणिक की लघुमाता तथा श्रेणिक की रानी आर्या राम-कृष्णा ने किया था और मुक्ति पाई थी। इसकी विधि इस प्रकार है—

इसकी स्थापना भी २५ कोठो मे होती है। यह तप पाँच उपवास से शुरू होता है और सात उपवास मे सम्पन्न होता है। इसकी एक परिपाटी मे छह मास, बीस दिन—कुल दो सौ दिन लगते हैं। उनमे पच्चीस पारणे होते हैं व १७५ दिन का तप होता है।

आयंबिल वर्द्धमान तप

यह तप कोणिक की लघुमाता तथा श्रेणिक की रानी आर्या महासेन कृष्णा ने किया था और सिद्धि पाई थी। इसकी विधि इस प्रकार है—

इस तप मे क्रमश आयंबिल बढाये जाते है, जैसे—एक आयंबिल करके उपवास करना, फिर दो आयंबिल, फिर एक उपवास। इस प्रकार बीच-बीच मे उपवास करते हुए सौ आयंबिल तक चढा जाता है। इस तप मे सौ उपवास एव ५०५० आयंबिल होते हैं। चौदह वर्ष, तीन मास व बीस दिन मे यह तप सम्पन्न होता है।

—अंतगडदसा सूत्र के अनुसार

बारह भिक्षु प्रतिमाएँ

साधु के अभिग्रह-विशेष को भिक्षुप्रतिमा या भिक्खु पडिमा कहते हैं। ये बारह हैं, यथा—(१) मासिकी, (२) द्विमासिकी, (३) त्रिमासिकी, (४) चतुर्मासिकी, (५) पंचमासिकी, (६) षण्मासिकी, (७) सप्त मासिकी, (८) प्रथमा सप्तरात्रिदिवा, (९) द्वितीया सप्तरात्रिदिवा, (१०) तृतीया सप्तरात्रिदिवा, (११) अहोरात्रिकी और (१२) एकरात्रिकी।

प्रत्येक प्रतिमाधारी मुनि अपने शारीरिक संस्कारो तथा शरीर के ममत्व भाव को छोड देता है और दैन्य भाव न दिखाते हुए, अर्थात् धीरतापूर्वक देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करता है। पडिमा अथवा प्रतिमाधारी मुनि अज्ञात कुल से और थोडे परिमाण मे गोचरी लाता है। गृहस्थ के घर पर मनुष्य, पशु, श्रमण, ब्राह्मण, भिखारी आदि भिक्षार्थ खडे हों तो उसके घर नहीं जाता, क्योंकि उनके दान मे अन्तराय पडता है। अत उनके चले जाने पर जाता है। प्रत्येक प्रतिमा का परिचय और पालनीय नियमों का वर्णन इस प्रकार है—

पहली भिक्षु प्रतिमा

भिक्षा लेने के उपयुक्त गृह और और दाता का विधान

पहली प्रतिमाधारी साधु को एक 'दत्ति'[1] अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो, साधु को वहीं से भिक्षा लेनी चाहिए। जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो, वहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। गर्भवती और छोटे बच्चे वाली स्त्री के लिए बना हुआ भोजन भी नहीं लेना चाहिए। यदि कोई स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो—स्तनपान करा रही हो और वह बच्चे को दूध पीने से हटाकर भिक्षा दे तो भी नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार आसन्न-प्रसवा स्त्री तथा जिस स्त्री के दोनों पैर देहली के भीतर या बाहर हों, उससे भी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। लेकिन जिस स्त्री का एक पैर बाहर तथा एक पैर अन्दर हो, उससे भिक्षा लेनी चाहिए।

गोचरी का समय

प्रतिमाधारी मुनि के लिए तीन समय गोचरी के लिए बताये हैं—(१) दिन का आदि भाग, (२) मध्य भाग और (३) चरम भाग। मुनि को किसी एक समय में गोचरी के लिए जाना चाहिए, अर्थात् उसे एक से अधिक बार गोचरी के लिए कदापि नहीं जाना चाहिए। तीनों समयों में से किसी भी एक समय गोचरी ग्रहण करना ही कल्पता है।

गोचरी के प्रकार

प्रतिमाधारी को छह प्रकार की गोचरी करनी चाहिए, यथा—(१) पेटा, (२) अर्द्ध पेटा, (३) गो-मूत्रिका, (४) पतंगवीथिका, (५) शम्बूकावर्ता अथवा शंखावर्ता और (६) गतप्रत्यागता (गत्वा प्रत्यागता)। इन छहों गोचरी के बारे में इस प्रकार कहा गया है—

(१) पेटी के समान चार कोने वाली वीथी (गली) में गोचरी करने को 'पेटा गोचरी' कहते हैं।

(२) दो कोने वाली गली में गोचरी करने को 'अर्द्धपेटा गोचरी' कहते हैं।

(३) चलते हुए बैल के पेशाब करने पर जैसी रेखाएँ होती हैं, उसी प्रकार की घर की पंक्ति में गोचरी करने को 'गोमूत्रिका गोचरी' कहते हैं।

(४) जिस प्रकार पतंगा एक स्थान से उड़कर दूसरे स्थान पर बैठता है उसी प्रकार एक घर से गोचरी लेकर बीच में घर-पंक्ति छोड़कर भिक्षा लेने को 'पतंगवीथिका' गोचरी कहते हैं।

---

1. साधु के पात्र में दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और पानी की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे उसे 'दत्ति' कहते हैं। धारा खण्डित होने पर दत्ति खण्डित हो जाती है।

(५) शंख—दक्षिणावर्त और वामावर्त दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार किसी गली मे दक्षिण की ओर से भ्रमण करते हुए उत्तर की ओर जाकर गोचरी लेना तथा उत्तर की ओर से भ्रमण करते हुए दक्षिण की ओर जाकर गोचरी लेना 'शंखावर्ता' या 'शम्बूकावर्ता' गोचरी कही जाती है।

(६) वीथी के अन्तिम घर तक जाकर भिक्षा ग्रहण करते हुए वीथीमुख तक आना 'गत्वाप्रत्यागता' अथवा 'गतप्रत्यागता' गोचरी कहलाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त छह गोचरियो मे से किसी एक प्रकार की गोचरी करने का अभिग्रह लेकर प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को भिक्षा लेना कल्पता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि एक दिन मे एक ही प्रकार की गोचरी करने का अभिग्रह करके भिक्षा लेने का विधान है।

रुकने—ठहरने का स्थान

साधु के रुकने-ठहरने का विधान भी इस प्रकार बताया गया है—

जहाँ साधु को कोई जानता हो, वहाँ वह एक रात रह सकता है और जहाँ उसे कोई नही जानता हो, वहाँ वह एक या दो रात रह सकता है, लेकिन इससे अधिक नही। इससे अधिक दिन तक ठहरने वाले साधु को (अधिक दिनो के) छेदन या प्रायश्चित्त करना होता है।

भाषा

प्रतिमा प्रतिपन्न साधु को चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए—

(१) याचनी, (२) पृच्छनी, (३) अनुज्ञापनी और (४) पृष्ठव्याकरणी, यथा—

(१) दूसरे से आहार, वस्त्र, पात्र आदि मांगने के लिए बोलना 'याचनी' भाषा है।

(२) शंका का समाधान करने के लिए गुरु आदि से प्रश्न करना अथवा किसी से मार्ग पूछना 'पृच्छनी' भाषा है।

(३) गुरु आदि से गोचरी आदि की आज्ञा लेने के लिए बोलना अथवा शय्यातर (गृहस्वामी) से स्थानादि की आज्ञा देने के लिए बोलना 'अनुज्ञापनी' भाषा है।

(४) किसी व्यक्ति द्वारा प्रश्न किये जाने पर उत्तर देने के लिए बोलना 'पृष्ठ व्याकरणी' भाषा है।

प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार को इन चार भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा बोलना नहीं कल्पता है।

उपाश्रय

मासिकी भिक्षुप्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयो का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

(१) अध आरामगृह—उद्यान में अवस्थित गृह।

(२) अधःविवृत गृह—चारों ओर से अनाच्छादित गृह।

(३) अधःवृक्षमूल गृह—वृक्ष के नीचे, या वृक्ष के नीचे बना गृह।

भिक्षु प्रतिमाधारी साधु को ऊपर लिखे तीन प्रकार के उपाश्रयों की आज्ञा लेना कल्पता है तथा इन्हीं तीन प्रकार के उपाश्रयों में ठहरना कल्पता है।

संस्तारक अथवा शय्या-आसन

प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के संस्तारकों (शय्या-आसनों) का प्रतिलेखन करना कल्पता है; यथा—

(१) पृथ्वी शिला—पत्थर की बनी हुई शय्या।

(२) काष्ठ शिला—लकड़ी का बना हुआ पाट।

(३) यथासंस्तृत—तृण-पराल आदि जहाँ पर पहले से बिछा हुआ हो।

भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार को उपर्युक्त तीनों प्रकार के संस्तारकों—शय्या-आसनों की आज्ञा लेना तथा ग्रहण करना (प्रयोग करना) कल्पता है।

उपाश्रय आचार

अनगार के उपाश्रय में यदि कोई (अनाचारी) स्त्री या पुरुष आकर अनाचार का आचरण करें तो उन्हें देखकर अनगार को उपाश्रय से निष्क्रमण या प्रवेश करना नहीं कल्पता है, अर्थात् जिस स्थान पर प्रतिमाधारी मुनि ठहरा हुआ हो, वहाँ दिन या रात में दुराचारी स्त्री या पुरुष दुराचार का सेवन करें तो उन्हें देखकर मुनि को उपाश्रय से बाहर नहीं जाना चाहिए, बल्कि आत्मचिन्तन या स्वाध्याय में रत रहना चाहिए। इसी प्रकार जब अनगार गोचरी या शौच सेवन आदि के लिए उपाश्रय से बाहर गया हो और उसके पीछे स्त्री-पुरुष उपाश्रय में आकर बैठ जावें या अनाचार का आचरण करते हुए दिखाई दें तो अनगार को उस उपाश्रय में प्रवेश करना नहीं कल्पता है।

उपसर्ग उपस्थित होने पर उपाश्रय आचार

प्रतिमाधारी अनगार जिस उपाश्रय में स्थित हो, उसमें यदि किसी प्रकार आग लग जाए या कोई लगा दे तो अग्निभय से अनगार को उपाश्रय से बाहर निकलना नहीं कल्पता है। ऐसी अवस्था में यदि अनगार बाहर हो तो भी उसे अग्नि प्रदीप्त उपाश्रय में प्रवेश करना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार अग्निप्रदीप्त उपाश्रय में स्थित अनगार को कोई भुजा पकड़कर बाहर निकालना चाहे तो अनगार को उचित है, उस [illegible] विवेकपूर्वक बाहर निकले।

विहार करते समय

अनगार के पैर में यदि कोई ठूंठ, कांटा, हीरक (जैसे कांच आदि) कंकड़ आदि लग जाए तो उसे निकालना (विशोधन) करना नहीं कल्पता है, किन्तु ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है। इसी प्रकार यदि अनगार की आँख में मच्छर आदि सूक्ष्म जन्तु बीज (धूल, तिनका आदि) रज आदि गिर जाए तो उसे

निकालना या विशुद्धि (उपचार) करना नही कल्पता है। ऐसी स्थिति मे साधु को ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है।

विहार करते समय सूर्यास्त

प्रतिमाधारी साधु को विहार करते हुए जहाँ सूर्यास्त हो जाए, वही रहना चाहिए, भले ही वह स्थान—(१) जलपूर्ण अथवा थल हो, (२) दुर्गम या नीचा मार्ग हो, (३) पर्वत या विषम मार्ग हो, (४) गर्त या गुफा हो। साधु को पूरी रात वही रहना चाहिए, एक कदम भी आगे नही बढना चाहिए। जब प्रात.कालीन प्रभा प्रकट हो और सूर्य का उदय होने लगे तो चारो दिशाओ (पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण) मे से किसी एक की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना कल्पता है।

निद्रा

मासिकी भिक्षुप्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सचित्त पृथ्वी पर निद्रा लेना या ऊँघना नही कल्पता है। केवली भगवान ने सचित्त पृथ्वी पर नीद लेने या ऊँघने को कर्मबन्ध का कारण कहा है। यदि प्रतिमाधारी अनगार सचित्त धरती पर नीद लेगा और अपने हाथ से भूमि का स्पर्श करेगा तो उससे पृथ्वीकाय जीवो की हिंसा होगी, अतः उसे सूत्रोक्त विधि से निर्दोष स्थान पर ठहरना चाहिए या निष्क्रमण करना चाहिए। यदि अनगार को मलमूत्र की बाधा हो जाए तो रोकना नही चाहिए—पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर त्याग करना चाहिए और पुन उसी उपाश्रय मे आकर यथाविधि निर्दोष स्थान पर ठहरना चाहिए।

अनगार को सचित्त रजयुक्त काय से गृहस्थो के गृह-समुदाय मे भक्तपान के लिए निष्क्रमण और प्रवेश करना नही कल्पता है। यदि यह ज्ञात हो जाए कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज स्वेद, शरीर पर लगे हुए मैल या पक प्रस्वेद से अचित्त हो गया है तो उसे गृहस्थो के गृह समुदाय मे भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है।[1]

शरीर शुद्धि जल प्रक्षालन :

प्रतिमाधारी अनगार को विकट शीतोदक या विकट उष्णोदक—अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दाँत, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना

---

१. 'सचित्त रजयुक्त काय'। अनगार के उपाश्रय के निकट किसी खान से मिट्टी खोदी जा रही हो तो वह सचित्त रज उड कर अनगार के काय पर लग जाती है, अतः 'सचित्त रजयुक्त काय' से गोचरी के लिए घरो मे जाने का यहाँ निषेध है। लेकिन यदि अनगार के शरीर पर पसीना बह रहा हो, उस समय शरीर पर लगी हुई सचित्त रज अचित्त हो जाती है अथवा शरीर के मैल पर लगी हुई सचित्त रज भी अचित्त हो जाती है, तब वह अनगार गोचरी के लिए गृहस्थो के घरो मे आ जा सकता है।

से ध्यान लगाकर समय व्यतीत करना चाहिए। ध्यान करते समय देवता, मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्बन्धी कोई उपसर्ग उत्पन्न हो तो ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिए, किन्तु अपने स्थान पर निश्चल रूप से बैठे रहकर ध्यान मे दृढ़ बने रहना चाहिए। यदि मलमूत्र आदि की शका उत्पन्न हो जाए तो रोकना नही चाहिए, किन्तु पहले से देखे हुए स्थान पर जाकर उनकी निवृत्ति कर लेनी चाहिए। आहार-पानी की दत्तियो के अतिरिक्त इस प्रतिमा मे प्रथम प्रतिमा मे उल्लिखित नियमो का पालन करना चाहिए।

नौवीं भिक्षुप्रतिमा

इस प्रतिमा का समय सात दिन-रात है। इसमे चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। इसमे ग्राम अथवा नगर आदि के बाहर जाकर दण्डासन, लगुडासन और उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है। इसका नाम द्वितीय सप्तरात्रिदिवा प्रतिमा है।

दसवीं भिक्षुप्रतिमा

इसका नाम तृतीय सप्तरात्रिदिवा प्रतिमा है। इसका समय सात दिन-रात है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। ग्राम अथवा नगर के बाहर गोदोहनासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। आठवी, नौवी और दसवीं प्रतिमाओं मे आहार-पानी की दत्तियो के अतिरिक्त शेष सभी नियमो का पालन किया जाता है। इन तीनो प्रतिमाओं का समय इक्कीस दिन-रात है।

ग्यारहवीं भिक्षुप्रतिमा

इसका समय एक दिन-रात है। इसका नाम अहोरात्रि भी है। यह प्रतिमा आठ प्रकार की होती है। चौविहार बेला करके आराधन किया जाता है। नगर आदि के बाहर जाकर दोनो पैरो को सकुचित कर हाथो को घुटनो तक लम्बा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। शेष सभी नियम पूर्वोक्त है।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा

इस प्रतिमा का नाम 'एक रात्रिकी है'। इसकी अवधि केवल एक रात है। इसका आराधन बेले को बढा कर चौविहार तेला करके किया जाता है। इसके आराधक को ग्राम आदि के बाहर जाकर शरीर को थोडा-सा आगे की ओर झुकाकर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए अनिमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक सब इन्द्रियो को गुप्त रखकर दोनों पैरो को सकुचित कर हाथों को घुटनों तक लम्बा करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय देव, मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्बन्धी कोई उपसर्ग उत्पन्न हो तो दृढ होकर समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यदि उसको मल-मूत्र की शका उत्पन्न हो जाए तो उसे रोकना नही चाहिए, किन्तु पहले से देखे हुए स्थान मे उनकी निवृत्ति कर वापस अपने स्थान पर आकर विधि पूर्वक कायोत्सर्ग मे लग जाना चाहिए।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा का माहात्म्य तथा अन्य ज्ञातव्य

इस प्रतिमा का पालन करने वाले अनगार के लिए तीन अशुभ, अहितकर, असामर्थ्यंकर, अकल्याणकर एवं दुःखद भविष्य वाले होते हैं यथा—(१) उन्माद की प्राप्ति, (२) चिरकाल तक रोग एवं आतंक की प्राप्ति तथा (३) केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होना। अर्थात् देवादि द्वारा किये गए अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गादि को समभाव पूर्वक सहन न करने से उन्माद की प्राप्ति होती है। इसी तरह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित हो जाने से साधक श्रुत चारित्र रूप धर्म से भी पतित हो जाता है।

इस प्रतिमा का सम्यक् रूप से पालन करने से तीन अमूल्य पदार्थों की प्राप्ति होती है, यथा—(१) अवधिज्ञान, (२) मनःपर्यायज्ञान और (३) केवलज्ञान। इस प्रतिमा का सफल साधक उक्त तीनों में से एक गुण को अवश्य प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इस प्रतिमा से महान् कर्म समूह का क्षय होता है। यह प्रतिमा हित, शुभ, क्षमा, शान्ति, मोक्ष या ज्ञानादि प्राप्ति के लिए होती है।

इस प्रतिमा का यथासूत्र, यथाकल्प, यथातत्त्व सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, अतिचारों से शुद्ध कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर, आराधन कर भगवान की आज्ञानुसार पालन किया जाता है।

—आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध) ७वीं दशा

नोट—बारहवीं [illegible] के लिए [illegible]
[illegible]

गुणरत्न संवत्सर तप

रत्नावली तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ३ मास और
२२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी)
में ५ वर्ष २ मास और २८ दिन का
समय लगता है।

कनकावली तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ५ मास और
१२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में
५ वर्ष, ९ मास और १८ दिन का समय लगता है।

मुक्तावली तप
एक परिपाटी में ११ मास, १५ दिन। सम्पूर्ण
(चारों परिपाटी) तप में ५ वर्ष, ७ मास २८
दिन का समय लगता है।

महासिंहनिष्क्रीडित तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ६ मास और १८ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में ६ वर्ष, २ मास और १२ दिन का समय लगता है।

५ खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेर मज्झ न केणइ।

—आवश्यक सूत्र ४

मैं संसार के (८४ लाख जीव योनि के) सब जीवों को खमाता हूं, सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। इन सभी प्राणियों के साथ मेरा मैत्री भाव है, किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।

६ जइ कसाय उक्कडताए ण खामिय तो पज्जोसवणासु अवस्स विउसमियव्व।

—निशीथ चूर्णि ३।१

यदि कषाय की उत्कटता के कारण परस्पर में हुए कलह की क्षमायाचना न की हो, तो पर्युषण के अवसर पर कलह को अवश्य ही उपशान्त कर देना चाहिए।

७ ज अज्जिय चरित्तं देसणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेण॥

—निशीथ भाष्य २७९३

देशोनकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, उसे अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से मनुष्य नष्ट कर देता है।

८ उवसमेण हणे कोह माण मद्दवया जिणे।
माय मज्जव भावेण लोभ सन्तोसओ जिणे॥

—दशवैकालिक ८।३९

उपशम-क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरल भाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।